पुस्तक—

प्रभु श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. का जीवन ।

※

लेखक—

मुनि प्रवर श्री देवेन्द्रविजयजी

※

प्रकाशक—

श्री राजेन्द्र विहार दादावाड़ी,

तलेटी रोड़, पालीताणा

※

प्रथम संस्करण —

वैशाख वि. सं. २०३४

यथोचित मूल्य १५)

※

प्राप्ति केन्द्र—

श्रीमोहनखेड़ा—श्रीराजेन्द्र प्रवचन कार्यालय

सरस्वती पुस्तक भंडार—रतनपोल—हाथीखाना, अहमदाबाद ।

※

चित्र एवं आवरण सज्जा—

तोलाराम गणेशदासजी शर्मा

गीता मन्दिर रोड़, अहमदाबाद -२२

※

मुद्रक—

[illegible]

[illegible] प्रिंटिंग प्रेस,

[illegible], [illegible]

समर्पण

★

जिनका जिनको

★

और

जिनकी मधुर प्रेरणा ने

मेरे जीवन को सँवारा

उन पूज्य गुरुदेव

के कर कमलों

में

सविनय

देवेन्द्र

★

शुभाशीर्वाद

परम पूज्य गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. का जीवन परिचय इस पुस्तक " धरती के फूल " में प्रस्तुत किया गया है।

गत शताब्दि में पूज्यपाद श्री गुरुदेव भगवन्त ने उस समय क्रियोद्धार किया कि जिस समय यति वर्ग के संत्रास से संघ त्रस्त था। श्रीजिनवाणी का प्रचार आपका ध्येय था। इसकी सफलता के लिये आप यावज्जीवन लगे रहे। परिषहों के सामने कभी न झुके तथा हताशा और निराशा आपके जीवन में प्रवेश ही नही कर सकी।

"धरती के फूल" में परमोपकारी श्री गुरुदेव का जीवन लिख कर मुनि श्री देवेन्द्रविजयजी ने आवश्यकता की पूर्ति का अच्छा प्रयत्न किया है।

गुरु सप्तमी
१५-१-७८

श्री विजय विद्याचन्द्र सूरि,
श्री मोहनखेड़ा तीर्थ
(धार--म.प्र.)



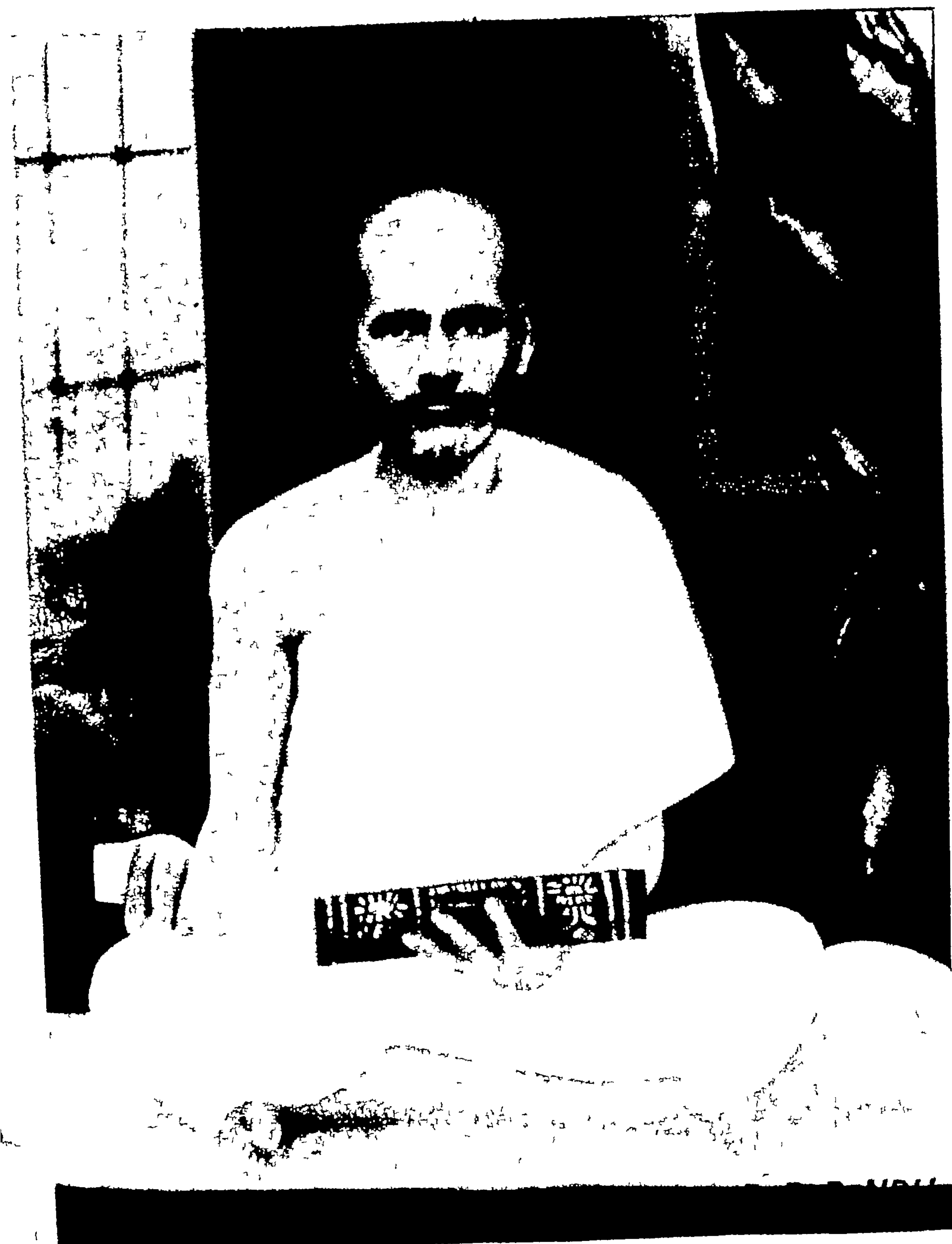
परम योगीराज समर्थ गुरुदेव क्रियोद्धारक

प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



चर्चा चक्रवर्ती आचार्यदेव

श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



साहित्य विशारद आचार्यदेव

श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



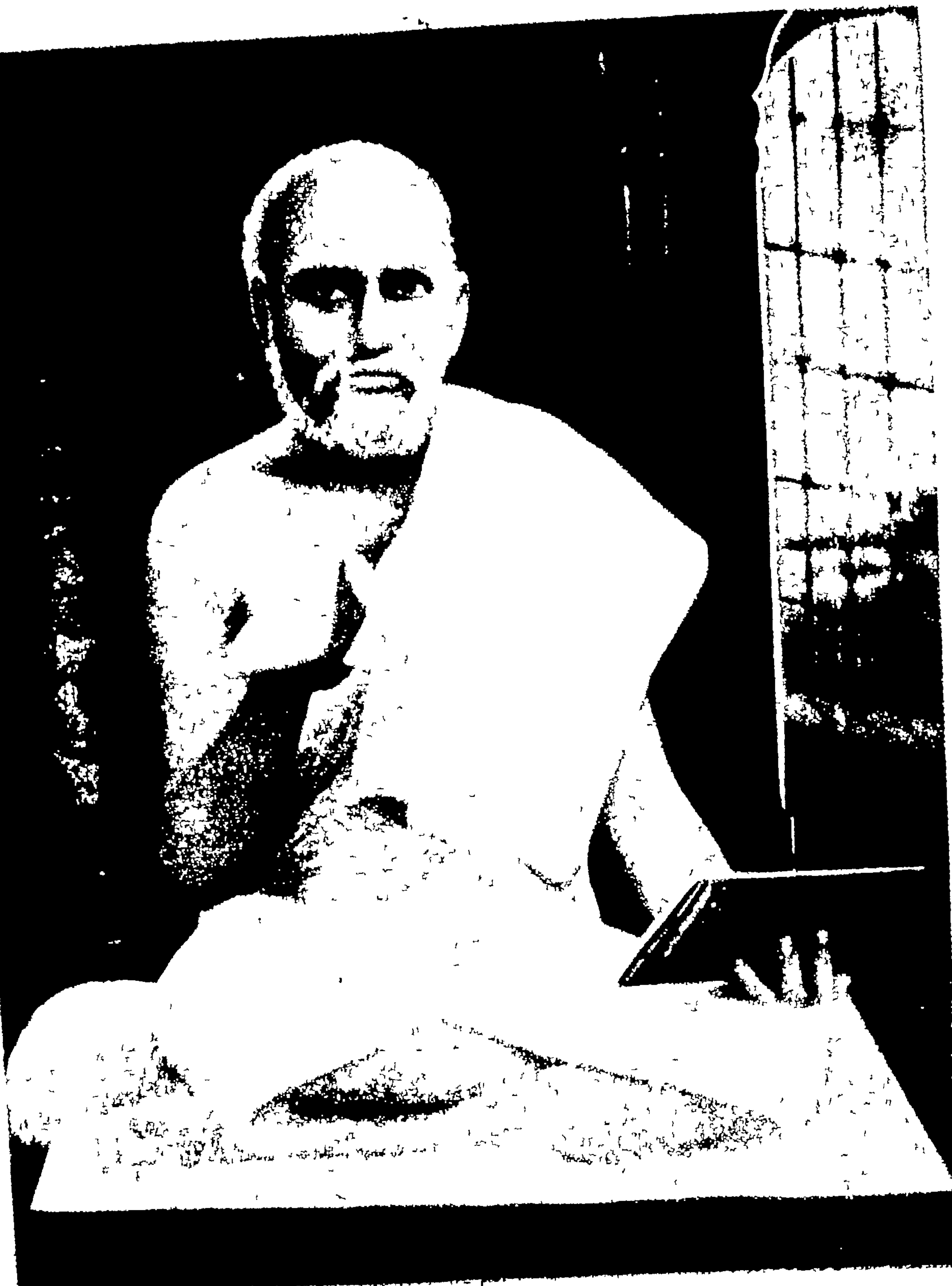
व्याख्यान वाचस्पति तीर्थोद्धारक आचार्यदेव

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



शांत स्वभावी उपाध्याय

श्री मोहन विजयजी महाराज

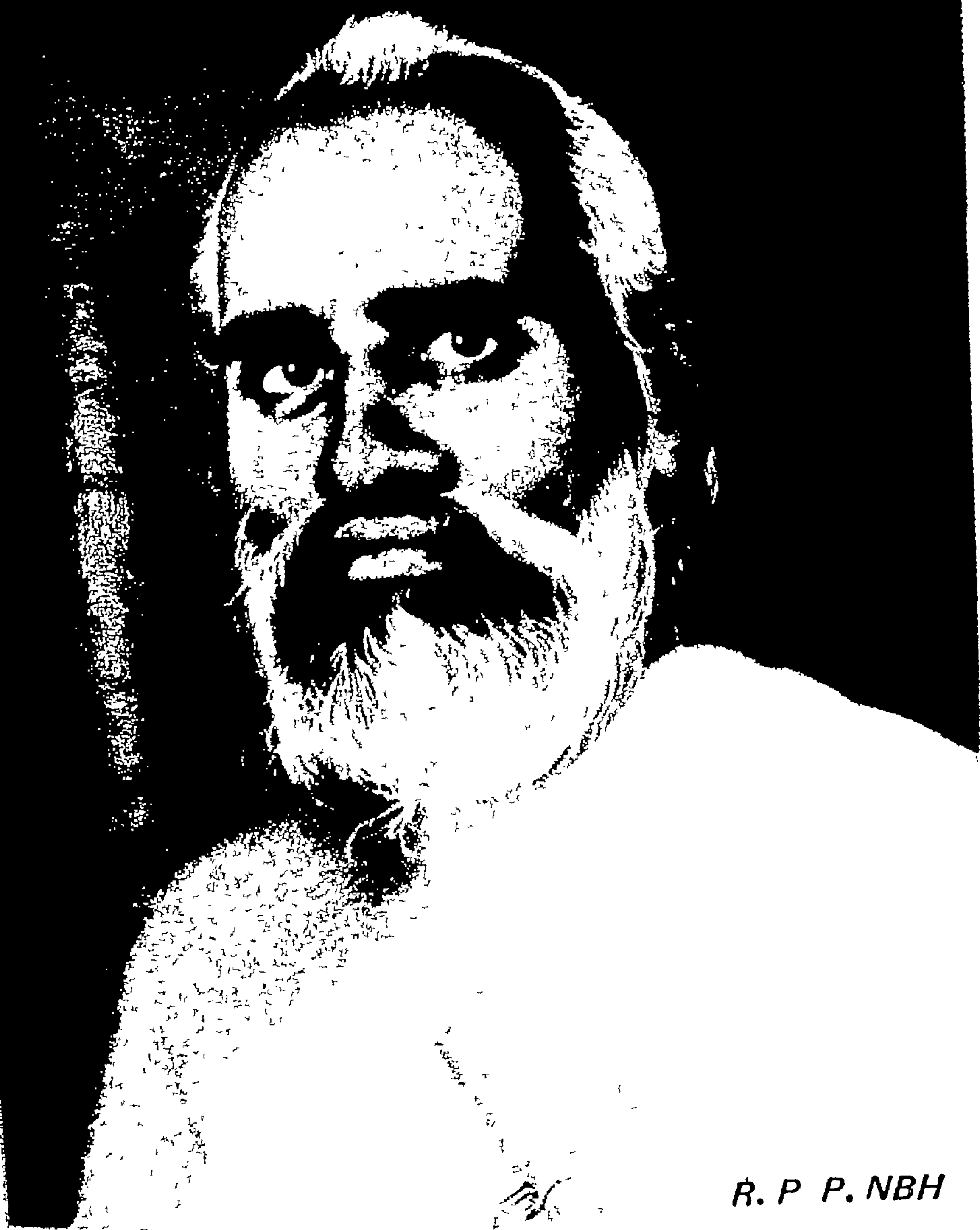


उपाध्याय
श्री गुलाब विजयजी महाराज



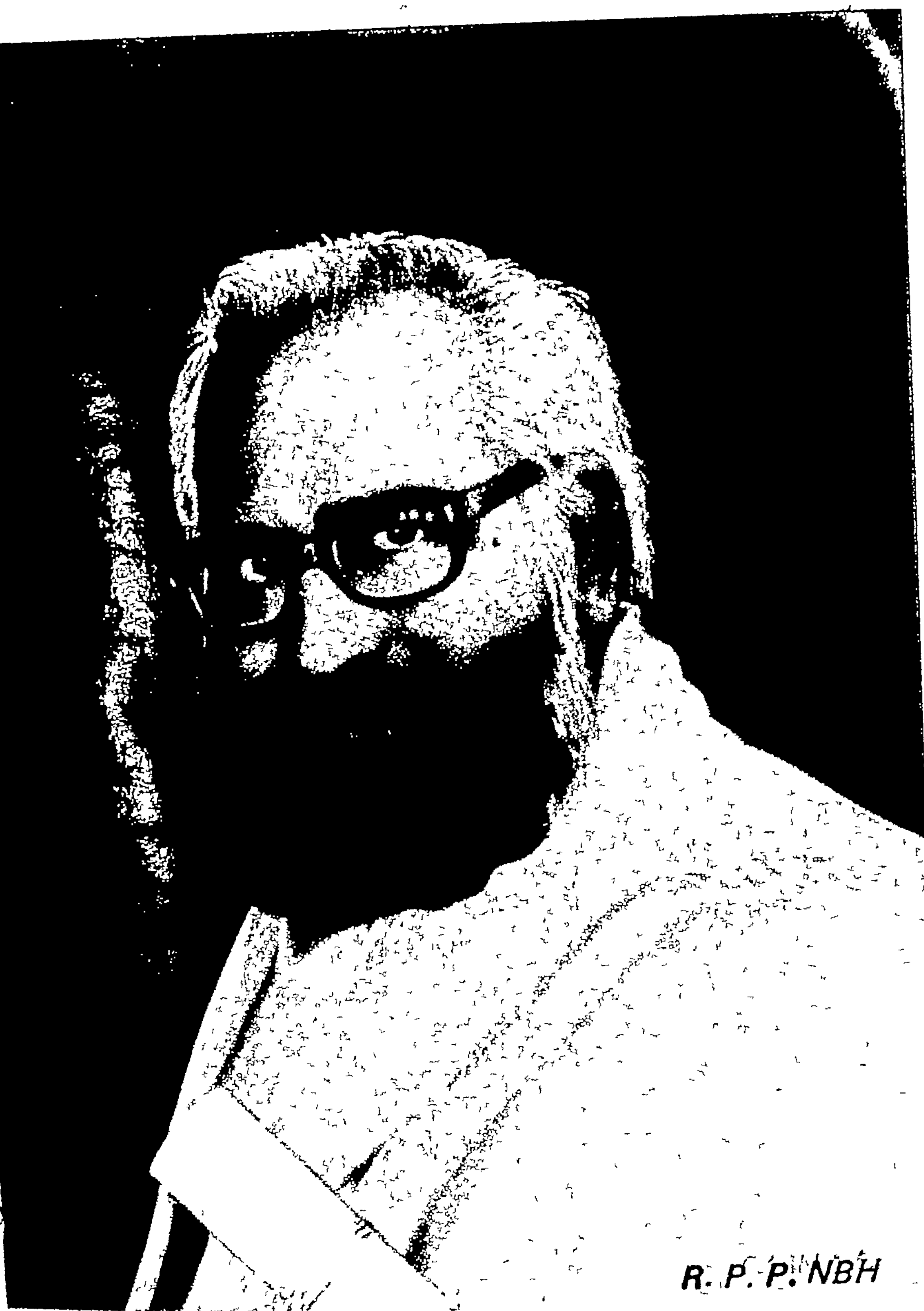
कविरत्न गणाधीश

श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



卐 लेखक 卐

मुनिप्रवर श्री देवेन्द्रविजयजी म०



卐 प्रेरक 卐

ज्योतिष विशारद मुनिप्रवर श्री जयप्रभविजयजी म

जिन-जिन गुरु भक्तों ने श्री गुरुदेव के उपदेश से जिनालय बनवाये, प्रतिष्ठाएँ, अंजनशलाकाएँ, संघयात्राएं और संघ भक्ति आदि सुकृत किये उनकी नामावली—

सेठ टिकमजी, सेठ वागमलजी, सिरेमलजी, फूआजी, कुंदनमलजी बाफना, कपूरचन्दजी के दोनों पुत्र जररूपजी जीतमलजी, लुंबाजी मेघाजी मोतीजी, वन्नाजी मेघाजी, अंबावीदास मोतोचंद खेताजी वरदाजी, दोलतराम चुन्नीलाल, दोलतराम हीराचन्द, गोकुलजी लूणाजी, दल्लाजी लूणाजी, होकमीचन्दजी फतेचन्द बाफना, लूणाजी रखबदास, रूपचन्द रखबदास, मिश्रीमल मथुरालाल होकमीचन्दजी सराफ, वीशाजी जवरचंद। करमचंदजी लूणावत भेराजी कालूजी नागदा, चुन्नीलालजी मुणोत, छोटमल जुहारमल पारख, पृथ्वीराजजी केशरीमलजी धारिवाल, टेकाजी रूनवाल, लक्ष्मीचन्दजी लोढ़ा, उस्ताद निहालचंद गांग। छोगालालाजी मुथा। मोदी दीपसीजी। दोलाजी भेराजी। हजारीमल चमनाजी। खूमाजी नेताजी। लूंबाजी पोमाजी फोजाजी नाथजी पुराणी। केशरीमल खंजाची। माणकचन्दजी नाथाजी। मगनीरामजी सेठ। मोदी रूपचन्द वेणीरामजी। वेणीरामजी चौधरी मगनीरामजी गिरिया। रामाजी संघवी। रामाजी भंडारी। रखबाजी भंडारी। प्रतापचन्दजी कबदी। गेबजी संघवी। महेता गफूरभाई। वागजी घोकलजी। माणकचन्दजी चम्पालालजी प्रेमाजी वीरचन्द। प्रेमचन्द गोमाजी। लक्ष्मीचन्द भाई। कविवर रायचन्दजी, देवीचन्दजी गोमराजजी तेजराजजी मुथा। आदि-आदि।

निवेदन

मोहावरण को छिन्न-भिन्न करके आत्मा को उज्ज्वल बनाने के लिये यद्यपि अनेक मार्ग है, तथापि जैन-मार्ग सर्वोत्तम और श्रेष्ठ है। अनंत-अनत जीवों ने जैन-मार्ग-आश्रय से आत्म सुख पाया है।

काल गणना की मर्यादा से अधिक प्राचीन है यह मार्ग। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर प्रभु के निवार्ण के बाद, आचार्यवर्यों ने इस सघ का नेतृत्व किया। यद्यपि नेता गीतार्थ, समर्थ और जागृत थे, तथापि ह्रास प्रधान काल, राजकीय वातावरण और अन्यान्य निमित्तों से त्यागियों मुमुक्षुओं के इस सघ पर शिथिलता हावी हो चली। सतत् जागृत गुरुवरों ने प्रयत्न किये, फल भी आये परन्तु फिर पुनः शिथिलता हावी हो गयी। तब पुनः पुनरोद्धारक किसी गुरुवर ने प्रयत्न किया। यह चलता ही रहा है। कभी कभी किन्ही शास्त्रयि स्थलों की विभिन्न निरुपणाओं ने विवाद पैदा किये तब विभाजन भी हुवे। अनेक गच्छों का अस्तित्व प्रमाण है।

दो सौ वर्ष पहले जैन श्वेताम्बर संघ मे आचार शिथिलता का साम्राज्य हो गया था। उस समय सघ का नेतृत्व यतियों के हाथ में था। विद्या और चमत्कारों के बल पर एक ओर यति-गण सस्ती-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की धमाल में लीन था तो दूसरी ओर यतियों के ऐसे भी दल थे कि जो वैभव और विलासप्रिय थे। सब अपनी-अपनी चाहनाओं की पूर्ति मे लगे थे। विद्या और तप फल इसी की प्राप्ति मे सार्थक समझा जाने लगा था। बड़ी दयनीय दशा थी त्यागी वर्ग की। तव उपासक वर्ग के मनो-स्वास्थ्य का कौन चिन्तक था ? वह उपेक्षित था।

ऐसे समय मे शिथिलता के गर्त से सघ को निकाल कर धर्म जीवन को पुनः गतिशील करना यह पुनरोद्धारक के ही वश की बात थी। युग-युग मे पुनरोद्धारक हुवे है। पुनरोद्धारकों की परम्परा के अनेक प्रकाशमान नक्षत्रों की मणीमाला के एक मणी है। आचार्य वर्य प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. सा.।

प्रस्तुत पुस्तक "धरती के फूल" में आपके जीवन-कार्यों का संक्षिप्त निदर्शन है। वास्तव में श्रीगुरुदेव का जीवन गगा के जल के समान अ-मल, स्वच्छ और मधुर है। वे जन्म जात प्रभावक थे। शासन प्रभावना और शासन्नोनति के लिये सब कुछ करने के लिये वे सदा प्रस्तुत थे। विरोध परेशानियों और प्रलोभनों के सामने निर्भय होकर विचरना आपकी विशेषता है। पुनरोद्धार के मार्ग से उन्हें हटाने के लिये प्रयत्न करने वालों में उनके अपने विद्या-शिष्य भी थे। त्रास और परेशानियों के बीच से भी अपना मार्ग निकाल कर आप अपने संकल्प-मार्ग में बढ गये। आचारोज्ज्वल जीवन के यश से जले अनेक तेजोद्वेषियों ने आप पर आरोप लगाये आरोपों की भाषा और उनकी सार्थकता को अनाग्रह की आंख से देखने पर उनकी व्यर्थता देखी जा सकती है। स्तुति विचारणा के समय आपको 'उत्थापक" तक कहने मे विरोधियों ने अपने ज्ञान की सार्थकता देखी किसी पर आरोप लगाना सहज है, परन्तु उसकी सार्थकता सप्रमाण नही हो सके तो आरोप-निरुपण करने वाला अप्रमाण रहता है। इतिहास, पट्टावलियों और अन्य सामग्री के बल पर उक्त आरोप की सत्यता का परीक्षण करने पर यह आरोप सत्य नही ठहरता। दृष्टिराग विद्वान और निपुण को भी किस सीमा तक असत्य पोषक बना देता है यही विचारणीय है। "सिद्धन्तोपदेश" प्रकरण मे त्रिस्तुति की प्राचीनता पर प्रमाण-सभर विचार किया है।

श्री देवगुरु भगवन्त के जीवन के इस आलेखन मे जीवनप्रभा, श्रीराजेन्द्र गुण मजरी, श्रीराजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ और "तीर्थकर" गुरु जीवनांक आदि का सहकार लिया है। कुछ अन्य अप्रकाशित साहित्य का सहयोग लिया है। जब तक बना प्रत्येक घटना लेखन मे प्रमाणिकता पर विशेष ध्यान रखा है।

सन् ७१, ७२, ७३ में जालौर में श्री गोडी पार्श्वनाथ चैत्य के विशाल प्रांगण में गुरु सप्तमी के उत्सवों मे, पब्लिक व्याख्यानों में,

और वि. सं २०३० के मार्ग, सुदि ५ को जावरा (म. प्र.) मे श्रीगुरुदेव के क्रियोद्धार स्थल पर नव निर्मित श्री राजेन्द्रसूरि दादावाड़ी मे गुरु मन्दिर के प्रतिष्ठा के अवसर पर वर्तमानाचार्यवर्य श्रीमद् विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी म० के साथ मे मैं भी उपस्थित था। तव मैंने गुरु जीवन पर एक सप्ताह तक व्याख्यान दिये तब से मुनिवर्य श्री जयप्रभ-विजयजी आदि की प्रेरणा थी कि गुरु जीवन पर लिखो। श्रीमोहनखेड़ा तीर्थ मे भी गुरु सप्तमी के उत्सवों मे व्याख्यानों के अवसर पर गुरु जीवन-लेखन की प्रेरणाएं होती रहा। तव मैंने निश्चय किया। अध्ययन किया। कुछ रेखाएं उभरी। कुछ रही। कुछ मिटी। कुछ मिट कर वापस बनी। क्रियोद्धार तक लिखा कि गुरु जन्म भूमि दर्शन की महेच्छा पैदा हो गयी। श्री वर्तमानाचार्यजी म० की आज्ञा भी मिल गई। पारलु-बालोतरा से जोधपुर अजमेर जयपुर हो कर भरतपुर पहुचे। आगरा फिरोजाबाद हो कर पुनः श्रीमोहनखेड़ा पहुँचे। बयासी दिनों मे चउदह सौ माईल का विहार हुवा। वापस आकर सारा गुरु जीवन पुनः लिखा। सामग्री की प्रचुरता और पृष्टों की मर्यादित साख्या के बीच तालमेल बिठाया। लेखन मे द्रुतता की, स्वप्न था कि शीघ्र कार्य समापन कर दूँ। परन्तु श्री आचार्यवर्यश्री की आज्ञा और श्रीसघ थराद का तीव्रतम आग्रह था अतः लेखन बीच मे ही रोक कर थराद की यात्रा की। थराद मे सब तपों का विशाल उद्यापन था। उस महोत्सव-कार्य मे समय लग गया। संघ के प्रबलतम आग्रह से अक्षय तृतीया तक थराद ठहरना पड़ा। चातुर्मास अहमदाबाद हुवा। लेखन के लिये समयाभाव रहा। तब ४ महिनों मे बनने वाले चित्र मुझे सतरा महिनों मे मिले। कुछ स्वास्थ्य तो कुछ संघ कार्यों ने भी विलम्ब किया। विलम्व तो द्रौपदी के चीर के समान लम्बा होता गया। मैं स्वयं भी व्यग्र था। कुछ व्यंग करने वालों ने व्यंग भी किये। परन्तु सब मिला कर विलम्व ने भी मुझे नया सीखने समझने का अवसर दिया। मेरी शक्ति से बाहर का कार्य था, परन्तु श्रीगुरुदेव के पसाय से मैं सफल हो गया इसका सातोष मुझे है।

आभारः—

कविरत्न गणाधीश आचार्यवर्य श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरिजी म० ने मुझे जो कृपा-प्रसाद दिया है उसका यह सुफल है कि मैं इस कार्य में सफल हुवा। उन श्री के प्रति किन शब्दों मे कृतज्ञता ज्ञापित करूं? शब्द नही है। मुनि श्री सौभाग्यविजयजी एवं मुनि श्री जय प्रभविजयजी का सहकार-सहयोग आभार की सीमा से भी ऊंचे है। लेखन में दोनों अंतेवासी मुनि रवीन्द्रविजयजी एवं मुनि नरेन्द्रविजयजी का भी सहकार मिला है। जिन जिन गुरुभक्तों ने प्रत्यक्ष परोक्ष अल्प या बहुत जितना भी और जब भी सहकार दिया है, उस सब का यह सुफल है। अतः उन सब को पुस्तक की प्रकाशन वेला में—

लेखन मे किसी तरह की भी भूल के लिये क्षमा प्रार्थना।

जयन्तु गुरुदेवाः ॥
मुनि देवेन्द्रविजय।
श्रीराजेन्द्र विहार दादावाड़ी
पालिताणा (सौराष्ट्र)

अक्षय तृतीया
२०३४
२१-४-७७



॥ श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय गुर्वावली ॥

॥ शासनपति-श्रीमहावीर स्वामीजी ॥

१ श्रीसुधर्मास्वामीजी
२ ,, जम्बूस्वामीजी
३ ,, प्रभवस्वामीजी
४ ,, शय्यंभवसूरिजी
५ ,, यशोभद्रसूरिजी
६ ,, संभूतिविजयजी
,, भद्रबाहुस्वामीजी
७ ,, स्थूलिभद्रसूरिजी
८ ,, आर्यमहागिरिजी
,, आर्यसुहस्तिसूरिजी
९ ,, सुस्थितसूरिजी
,, सुप्रतिबद्धसूरिजी
१० ,, इन्द्रदिन्नसूरिजी
११ ,, दिन्नसूरिजी
१२ ,, सिंहगिरिसूरिजी
१३ ,, वज्रस्वामीजी
१४ ,, वज्रसेनसूरिजी
१५ ,, चन्द्रसूरिजी
१६ ,, सामन्तभद्रसूरिजी
१७ ,, वृद्धदेवसूरिजी
१८ ,, प्रद्योतनसूरिजी
१९ ,, मानदेवसूरिजी
२० श्रीमानतुंगसूरिजी
२१ ,, वीरसूरिजी
२२ ,, जयदेवसूरिजी
२३ ,, देवानन्दसूरिजी
२४ ,, विक्रमसूरिजी
२५ ,, नरसिंहसूरिजी
२६ ,, समुद्रसूरिजी
२७ ,, मानदेवसूरिजी
२८ ,, विबुधप्रभसूरिजी
२९ , जयानन्दसूरिजी
३० ,, रविप्रभसूरिजी
३१ ,, यशोदेवसूरिजी
३२ ,, प्रद्युम्नसूरिजी
३३ ,, मानदेवसूरिजी
३४ ,, विमलचन्द्रसूरिजी
३५ ,, उद्योतनसूरिजी
३६ ,, सर्वदेवसूरिजी
३७ ,, देवसूरिजी
३८ ,, सर्वदेवसूरिजी
३९ ,, यशोभद्रसूरिजी
,, नेमिचन्द्रसूरिजी
४० ,, मुनिचन्द्रसूरिजी

४१ श्रीअजितदेवसूरिजी
४२ ,, विजयसिंहसूरिजी
४३ ,, सोमप्रभसूरिजी
,, मणिरत्नसूरिजी
४४ ,, जगच्चन्द्रसूरिजी
४५ ,, देवेन्द्रसूरिजी
,, विद्यानन्दसूरिजी
४६ ,, धर्मघोषसूरिजी
४७ ,, सोमप्रभसूरिजी
४८ ,, सोमतिलकसूरिजी
४९ ,, देवसुन्दरसूरिजी
५० ,, सोमसुन्दरसूरिजी
५१ ,, मुनिसुन्दरसूरिजी
५२ ,, रत्नशेखरसूरिजी
५३ ,, लक्ष्मीसागरसूरिजी
५४ " सुमतिसाधुसूरिजी
५५ श्रीहेमविमलसूरिजी
५६ ,, आनन्दविमलसूरिजी
५७ ,, विजयदानसूरिजी
५८ ,, हीरविजयसूरिजी
५९ ,, विजयसेनसूरिजी
६० ,, विजयदेवसूरिजी
६१ ,, विजयसिंहसूरिजी
६२ ,, विजयप्रभसूरिजी
६३ ,, विजयरत्नसूरिजी
६४ ,, वृद्धाक्षमासूरिजी
६५ ,, विजयदेवेन्द्रसूरिजी
६६ ,, विजयकल्याणसूरिजी
६७ ,, विजयप्रमोदसूरिजी
६८ ,, विजयराजेन्द्रसूरिजी
६९ ,, विजयधनचन्द्रसूरिजी
७० " विजयभूपेन्द्रसूरिजी
७१ " विजययतीन्द्रसूरिजी

७२ वर्तमानाचार्य श्रीविजयविद्याचन्द्रसूरिजी



किस पृष्ठ पर क्या ?

जैन धर्म की प्राचीनता	....	३
महाप्रभु के बाद	....	१६
नगर, जन्म, वंश	....	२४
अभ्यास यात्रा	....	३०
व्यवसाय और माता-पिता का वियोग	....	३४
गुरु दर्शन उपदेश	....	३९
विचार चिंतन	....	४४
वार्ता विचार आज्ञा	....	४८
दीक्षा-अभ्यास	....	५४
अध्यापन चिंतन निश्चय	....	६०
दिशा परिवर्तन	....	७०
कलम नामा	....	९३
निर्णय	....	१०७
जावरा मे पदार्पण	....	११३
क्रियोद्धार	....	११६
सिद्धान्तोपदेश	....	१२९
कही फूल कही कांटे	....	१९५
तीर्थोद्धार, तीर्थ स्थापना	....	२१५
विहार और सघ यात्राएँ	....	२२३
चातुर्मास और धर्म कार्य	....	२२९
प्रतिष्ठाएँ	....	२३५
अभिधान राजेन्द्र एक झलक	....	२४४
रचित और लिखित साहित्य	....	२६३
कलह शाति	....	२७१
झलकियां	....	२८०
प्रश्नोत्तर और चर्चाएँ	....	३०२
शिष्य और शिष्याएँ	....	३१६
स्वर्गवास	....	३३१
वन्दना	....	३४४

चित्र परिचय

पृष्ठ संख्या — चित्र परिचय

२६ माता केशर के हाथों में पुत्र 'रत्नराज'

३२ (अ) श्रीकेशरियाजी तीर्थमार्ग में बालिका को व्यंतर के आवेश से रत्नराज ने मुक्त किया।

(ब) कलकत्ता से व्यापार हेतु दोनों भाई जलयान से सिलोन गये।

३६ (अ) सिलोन में व्यापार

(ब) भरतपुर में श्री प्रमोदसूरिजी का उपदेश

५२ (अ) भाई माणिकलाल से संयम के लिये आज्ञा मांगी

(ब) आज्ञा मिलने के पश्चात गुरुदेव की सेवामें रत्नराज

६४ (अ) विक्रम सं. १६०४ में उदयपुर में रत्नराज ने दीक्षा ली।

(ब) श्रीपूज्य श्रीदेवेन्द्रसूरिजी के पास आगम अध्ययन

(स) घाणेराव में यतर के लिये शिक्षा दी।

८० (अ) शिथिलों का साथ छोड़कर विहार किया।

(ब) आहोर शहर में गुरुदेव के पास आये।

८४ विक्रम स. १६२४ के वे.सु.५ को आहोर में श्रीप्रमोद सूरिजी द्वारा श्री पूज्य पद प्रदान।

८८ जावरा में श्रीपूज्य श्रीराजेन्द्रसूरिजी का व्याख्यान।

१२८ (अ) सं. १६२५ में जावरा में क्रियोद्धार।

(ब) सं. १६२७ में कुक्षी मे नगर के बाहर तप।

(स) कुक्षी चौमासा में ४५ आगम का व्याख्यान

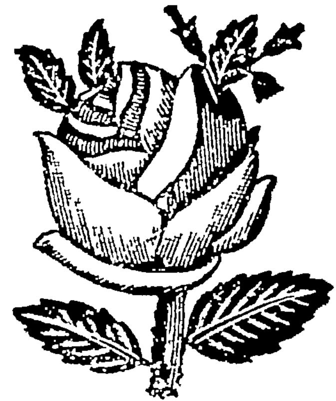
२०८ (अ) स. १६२७ में खानदेश में मांगी तुंगी पर्वत में आठ महिने तक तप।

(ब) सं. १६३३ में मारवाड़ के मोदरा बन में आठ महिने तक तप।

२१६ स्वर्णगिरी [जालोर] गढ़ स्थित जिनालयों का उद्धार
२२४ (अ) श्री मोहनखेड़ा तीर्थ की प्रतिष्ठा।
(ब) सियाणा में श्रीअभिधान राजेन्द्र की रचना प्रारंभ
२३६ (अ) सियाणा मारवाड़ में तीनसौ मूर्तियों की अंजनशलाका प्रतिष्ठा
(ब) कोरटा तीर्थ में २५० जिन बिम्बों की प्राण प्रतिष्ठा एवं श्री महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा
२३८ आहोर के श्रीगोड़ीपार्श्वनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा
२४० थराद के संघवी अम्बावीदास मोतीचद ने गुरुदेव श्री के सानिध्य में श्रीसिद्धाचलजी का सघ निकाला।
२४२ [अ] कुक्षी में आग का प्रकोप
[ब] कड़ोद प्रतिष्ठापक के घर पर धाड़ पड़ने पर भी गुरुभक्त ने गुरु पर विश्वास रखा। गया धन वापस आया।
२४४ आहोर मारवाड़ ६०० जिनबिम्बों की प्राण प्रतिष्ठा
२४८ [अ] श्री राजेन्द्र वृहद् जैनागम भण्डार आहोर में ज्ञान प्रतिष्ठा
[ब] शिवगंज में साधु साध्वी सघ को आचार पालन के लिये समाचारी निर्देश।
[स] खाचरोद मालवा में चिरोला वालों को संघ में शामिल कराना।
३३८ [अ] सूरत गुजरात में श्री अभिधान राजेन्द्र का लेखन समाप्त हुआ
[ब] जीवन के अन्तिम सप्ताह में पौष सुदी ३ को मुनि श्री दीपविजयजी एव मुनि श्री यतीन्द्र विजयजी को श्री अभिधान राजेन्द्र कोष का सम्पादक नियुक्त करना।
३४० वि. स. १९६३ के पौष सुदि ३ को संध्या समय अनशन व्रत स्वीकार कर अन्तिम आराधना मे लीन।
३४१ पौष सुदि ६ रात्रि ८ बजे स्वर्गवास।

जयन्तु श्रीवीतरागा

धरती के फूल



लेखक

मुनिप्रवर श्रीदेवेन्द्रविजयजी म.

स्मरण

महाप्रज्ञामूर्तिः मदनविजयी निर्मलयशा ॥
क्षमाशीलोपेतः विगतकलुषः शास्त्रनिपुणः ॥
प्रशस्यः सर्वेषां मुनिवरनतो साधुतिलक ॥
प्रभुः श्रीराजेन्द्रो जगति जयतात् सूरि सुगुरु· ॥

देवेन्द्रविजय

जैन धर्म की प्राचीनता



एक जमाने मे भारत और भारतेतर देशो मे फैले हुए जैन धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त सत्य की परख – कसौटी पर सत्य साबित हुए है। इस धर्म को अनेक देशो मे फैलाने का श्रेय सङ्घ के चारो अङ्गो को समान रूप से है। साहित्य, इतिहास, अभिलेख एवं भूखनन से प्राप्त अवशेषो के परीक्षण के परीक्षण–प्रयोगो के प्रकाश मे यह निसकोच कहा जासकता है कि जैन धर्म भारत का ही नही वरन् विश्व का प्राचीनतम धर्म है।

आत्मा, कर्म, कर्मबन्ध के निमित्त, पुनर्जन्म, इहलोक, परलोक, तत्व, द्रव्य, पदार्थ, पर्याय आदि का तथा कर्मबद्ध – आत्मा के विकास के लिये जो और जैसा सरल मार्ग इस धर्म ने दिखलाया है, वह भूतकाल मे हुए अनेक शास्त्रार्थो और विज्ञान दोनो की कसौटी पर सत्य साबित हुआ है।

जैन धर्म को एक सम्प्रदाय निरुपित करना और समझना एक भ्रांति है। वास्तव मे जैन धर्म वीतरागता की प्राप्ति की साधना का सरल मार्ग बतलाता है तथा उपासक को जीवन जीने के लिये भी मार्ग दिखलाता है। अत यह धर्म विज्ञान है। जीवन मे सार्थकता की सौरभ का मार्ग प्रस्तुत करता है--यह धर्म। उपासक के जीवन के प्रत्येक चप्पे मे सरलता, सहजता, सात्विकता और प्रोज्ज्वलता का कुम्कुम् छिडकता है यह धर्म।

"वत्थु सहाओ धम्मो" वस्तु का स्वभाव ही धर्म है कि व्याख्या के प्रकाश मे जैन धर्म और सत्य मे कोई अन्तर नही दिखता। जो सत्य है वह शाश्वत है और जो शाश्वत है वह सत्य है। तब जैन धर्म और सत्य में कुछ भी अन्तर नही है। यदि सत्य शाश्वत है तो जैन धर्म भी प्रवाह रूप से शाश्वत है।

जिस प्रकार सूर्य प्रतिदिन उदय होता है तो सध्या को अस्त भी होता है। फिर भी सूर्य के अस्तित्व के लिये शङ्का करना व्यर्थ है। यही बात धर्मरूप सूर्य के लिये है। किन्तु आज के वातावरण मे यह अवश्य पूछा जासकता है कि जैन धर्म के प्रवर्तन का इतिहास क्या है? स्वाभाविक बात है। श्रद्धालुओं के लिये तो उत्तर यह है कि प्रवाह रूप से आनादि है यह धर्म। जैन विचारधारा के अनुसार इस कल्प (अवसर्पण) काल के तीसरे विभाग (आरे) के अन्तभाग मे सातवे कुलकर नाभि राजा के पुत्र प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्री ऋषभदेव थे। उन्होंने फाल्गुन

कृष्णा ग्यारस[1] को धर्म प्ररूपणा की थी। वही धर्म प्ररूपणा जैन धर्म के नाम से विश्व में प्रख्यात् है।

उदार और सर्वजिनहितकारी यह जैन धर्म सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। परन्तु कुछेक विद्वान् अपने ऊपरी और अल्प अध्ययन के आधार पर जैन धर्म को बौद्ध धर्म का शाखा धर्म मानने की भ्रान्ति मे भटक गये। उसी भ्रम का अनेक विद्वानों ने पिष्टपेषण करके समय और शक्ति का अपव्यय ही किया है। परन्तु यह विचार सर्वथा अप्रामाणिक है। भारत के जैनेतर धर्मों के मान्य ग्रथ, प्राप्त अभिलेख, भूखनन से मिले पाषाण और धातु प्रतिमाओ



१ तओ णं जे से हेमताए चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे फग्गुणबहुले, तस्स णं फग्गुणबहुलस्स इक्कारसी पक्खेणं पुव्वण्हकाल समयसी पुरिमतालस्स नयरस्सबहिआ सगडमुहंसि उज्जाणंसि नग्गोहवरपायवस्स अहे अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणते जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥ २१२ ॥

—श्रीकल्पसूत्र (बारसा) पृष्ठ ५८/२/

(क) फग्गुणबहुलेक्कारसि उत्तरसाढाहिं नाणमुसभस्स ।

—श्रीआवश्यक नि० गाथा २६३

(ख) अथ व्रताव सहस्त्राब्द्यां फाल्गुनैकादशीदिने ॥

कृष्णे तथोत्तराषाढास्थिते चन्द्रे दिवामुखे ।

—त्रिषष्ठि० १/३/३६६/

(ग) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

(घ) समवायाग सूत्र

(ङ) लोक प्रकाश

(च) फाल्गुने मासि तामिस्त्रपक्षस्यैकावशीतियो ।

उत्तराषाढ़नक्षत्रे कैवल्यमुद्सूद्विभोः ॥

—महापुराण (जिनसेन)

के लेख, उनकी कला, उनकी बनावट तथा अन्य प्राप्त सामग्री के आधार पर यह प्रमाणिक हो गया है कि जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है और स्वतंत्र धर्म है। यह धर्म किसी धर्म की शाखा नही है। किसी धर्म और विचारधारा से भी इसने कोई सिद्धान्त नही लिया।

पहले हिन्दू धर्म–शास्त्रो के उन प्रलेखो को देखे कि जिनमे प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्री ऋषभदेवजी का उल्लेख है—

१—असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अरयः शुरुधः सन्ति पूर्वीः ॥
दिवो न पाता विदथस्स धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे ॥

—ऋग्वेद ५२–३८

२—ॐ नमो अर्हन्तो ऋषभो पवित्र पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं
परम साहसं स्तुतं वारं शत्रुंजयं तं पर्युरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा।

सामवेद अध्याय २५, मंत्र १९

३—अथर्ववेद के ऋषि भगवान् श्री ऋषभदेव का आह्वान् करने के लिये मानवगण को प्रेरणा के स्वर मे कह रहे है—

अहो मुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथमध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विनां हुवे धिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं दत्तभोजः।

— अथर्ववेदकारिका १९।४२।४

४—यजुर्वेद–अध्य–२०, मंत्र ४६ में भी वृषभदेव का उल्लेख है।

चारों वेदो के इन उल्लेखो से यह भली भाँति प्रकट है कि समस्त पापों से मुक्त अहिंसको मे प्रथम राजा आदित्य स्वरूप श्रीवृषभ या ऋषभ प्राचीन भारत मे हुए है। वे भगवान् ऋषभ कौन थे ?

यह बात उक्त वेदमंत्रों में स्पष्ट नही है। तब वैदिक मान्यता यह रही है कि वैदिक अनुश्रुतियों की व्याख्या पुराणों और काव्यों के आधार से करना उचित है। अतएव हिन्दू पुराणों के प्रलेखों के आधार से श्रीऋषभदेवजी के व्यक्तित्व का परिचय करले।

हिन्दू पुराणों के स्पष्ट मन्तव्य के अनुसार प्राचीन भारत में श्री ऋषभदेव नामक परम पुरुष हुए है जो नाभिराजा और मरुदेवी के पुत्र थे। वे हिन्दू पुराण है— वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वाराह पुराण, विष्णुपुराण, स्कंधपुराण, शिवपुराण, और प्रभासपुराण।[१] महाभारत के शान्ति पर्व में भी भगवान् श्रीऋषभदेव को महा-योगी और अर्हत् (जैन) मतका दिखलाने वाला है।[२] भगवत पुराण



१— पुराणो के ये पाठ इस प्रकार है—

(क) नाभित्वजनयत्पुत्र मरुदेव्यां महाद्युतिः ।।
ऋषभ पार्थिवं श्रेष्ठः सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।।

—वायुपुराण, पूर्वार्ध अ. ५-३३

(ख) ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।।
ऋषभात् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रज ।।

—ब्रह्मा पुरा अनुषगपाद पूर्वा. श्लोक ६०

(ग) नाभिर्मरूदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामान ।

—वाराह पुराण अध्याय ७४

(घ) नाभे पुत्रश्च ऋषभ ।

—स्कध पुराण माहेश्वर खंडे-कौमार खड अ. ३७

(ङ) हिमाह्वय तु यद्वर्ष, नामेरासीन्महात्मनः ।।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मे (म) रूदेव्या महाद्युतिः ।

—कूर्मपुराण अध्या ४१—श्लो ३७

के अनुसार श्रीऋषभ का जन्म रजोगुणीजनों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था।[3] इसी भागवत में ही गौरव पूर्ण शब्दों में श्रीऋषभदेव को नमस्कार करते हुए कहा है। जिन्होंने विषय भोगो की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से भूलेबिसरे मानवों को करुणावश अभय और आत्मलोक का उपदेश दिया और जो स्वय निरन्तर अनुभव करने वाले आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के द्वारा सब प्रकार की तृष्णा से मुक्त थे, उन श्रीभगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।[4] भागवत में ही अपने सौ पुत्रों को ऋषभदेवजी ने जो उपदेश दिया है वह मनोरम और दृष्टव्य है।



(च) ऋषभस्य चरित्र हि परम पावनं महत्।।
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्य, श्रोतव्य च प्रयत्नत.।।

—शिव पुराण ४–४७–४८

(छ) कैलासे विमले रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्चरः।।
चकार स्वावतार च, सर्वज्ञः सर्वगः शीव ।।

— प्रभास पुराण, ४६,

(ज) हिमाह्वय तु वै वर्ष नाभेरासीन्महात्मन·।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, ने (म) रुदेव्या महाद्युति.।।

—विष्णु पुराण द्वि. अ, १अ. २७ श्लो.।

२ – ऋषभादिनाम महायोगी नामाचारे। दृष्टाय अर्हतारयो मोहिता

३ – अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थम–भाग ५-६

४ —नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्ण,
श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धे।
लोकस्य य करुणाभयमात्मलोक–
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै।।

—श्रीमद् भागवत ५–६–१४–५६६,

बौद्ध ग्रन्थ 'मंजुश्री मूल कल्प' में भी श्री ऋषभदेव भगवान् का दृढव्रत और आदि सम्राट तथा सिद्धकर्म कह कर स्मरण किया है।[१] इन हिन्दू और बौद्ध ग्रंथों के प्रमाणों से श्रीऋषभदेव भगवान् प्रथम तीर्थङ्कर है तथा जैनधर्म – सिद्धान्तों के वे प्रवर्तक है। अत: जैन धर्म प्राचीन काल का सिद्ध होता है।

जैन काल गणना के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्रीऋषभदेव को हुए हमारी उन्नीस शून्यों की संख्या से भी अधिक काल[२] व्यतीत हो गया है। पाश्चात्य विद्वान् लेथब्रिज, एलफिस्टन, और बेवर आदि ने अपने साधारण अध्ययन के फलस्वरूप जैन धर्म को बौद्धधर्म का शाखा धर्म कह दिया था।

जर्मन विद्वान् सर जेकोबी ने अपने जैन और बौद्ध ग्रन्थों के गहरे और तलस्पर्शी अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि



१– प्रजापते सुनो नाभि तस्यापि ऊर्ण मुच्यति।
लाभितो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रत ॥
तस्यापि मणिचरो यक्ष सिद्धौ हेमवते गिरौ ॥
ऋषभस्य भरत पुत्र: सोऽपि मत्रान् तदा जपेत्।

(क निर्ग्रन्थ तीर्थकर ऋषभ निर्ग्रन्थ रूपि,

—आर्य श्री मजू मूल कल्प श्लो ३९०/३९२

(ख) उसभ पवरं वीर।

—धम्मपद ४२२,

२ उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स कालगयस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स तिण्णिवासा अद्धनवमाय मासा विइक्कता, तओऽविपर एगा सागरोवम कोडाकोडी तिवास अद्ध नवमासाहिय बायालिसाए वास सहस्सेहिं ऊणिया विइक्कंता, एयमि समये समण भगव महावीरे परिनिव्वडे।

श्रीकल्पसूत्र (बारसा–समिति) पृ. ६१

जैन धर्म एक स्वतत्र धर्म है और प्राचीन धर्म है। सर जेकोबी के तर्क है–

१–अनुगुत्तर निकाय के तीसरे अध्ययन के ७४ वे श्लोक में वैशाली के राजकुमार अभय ने निर्ग्रन्थो अर्थात् जैनो के कर्म सिद्धान्त का वर्णन किया है।

२—बौद्धों ने कई स्थानो पर जैनो को अपना प्रतिस्पर्धी माना है। परन्तु बौद्धो के किसी ग्रन्थ मे जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा नही माना।

३—सम्मनफलसुत्त तथा अनुगुत्तर निकाय और अन्य बौद्ध ग्रन्थों मे जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यदि जैन धर्म बौद्धो का शाखामार्ग होता तो बौद्धो को उनके सिद्धान्तों के निरुपण की क्यों आवश्यकता पडती ?

४—बौद्धो ने महावीरदेव तथा उनके शिष्य सुधर्माचार्य के निर्वाणकाल का उल्लेख किया है।

५—हिन्दुओ के धर्मशास्त्रो मे ऋषभदेव, अारिष्टनेमिनाथ आदि के उल्लेख भी जैनधर्म को प्राचीन सिद्ध कर रहे है।

ये प्रमाण भी जैनधर्म को प्राचीन और प्राड्. ऐतिहासिक सिद्ध करते है।

हाँ, यह बात अवश्य सप्रमाण है कि भगवान् बुद्ध अपने साधना काल में जैन धर्म के २३वे तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथजी के सङ्घ मे

सम्मिलित हुए थे ।[१] बौद्ध पण्डित धर्मानन्द कौसाम्बी ने लिखा है— "बुद्ध मे पार्श्वनाथ के चारों यामो को पूर्णतया स्वीकार किया था ।"[२]

पुरातत्व के प्राप्त प्रमाणों से भी जैनधर्म की प्राचीनता प्रमाणित हो रही है । उदयगिरि और खण्डगिरि (उड़ीसा) की गुफाओ से तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव की प्रतिमाएँ मिली है ।[३] मथुरा के ककाली टीले के खनन से प्राप्त अनेक पट्टों, आयागपट्टो के साथ श्रीऋषभदेवजी की मूर्ति भी है ।[४] मोहनजोदडो से मिली मुद्राओं से भी यह सिद्ध है कि पॉच हजार वर्षो पहले भी भारत मे ऋषभदेवजी की पूजा प्रचलित थी ।[५]

आधुनिक काल के विद्वानों ने भी अपने अध्ययन के आधार पर स्पष्ट लिखा है कि जैन धर्म भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल से



१—पं. सुखलाल—"चार तीर्थंकर" ।

२—"पार्श्वनाथ का चतुर्याम धर्म" पृ.२८/३१

३—डॉ फिव्र,केव्स एण्ड टेम्पिल्स ऑव जैन्स्, पृ ४एवं लोट्स ऑन् दी रिमेन्स ऑफ धौजी एण्ड केव्स ऑफ उदयगिरी पृ २

४—जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीकरीज ऑव मथुरा तथा प्रेमी अभिनंदन ग्रन्थ—पृष्ट—२७९—२८० ।

५—मोर्डन रिव्यू अगस्त १९३२—पृ.१५६—१५९ ।

(क) इंडियन हिस्टारिकल क्वारटर्ली भाग ८ पृ.२७/२९/१३२,

मौजूद है। राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन आदि के विचार जानने योग्य है ।[१]

डॉक्टर चार्ल शार्पेंटियर[२] ने लिखा है— हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिये की जैन–धर्म निश्चित रूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात् पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके है एवं परिणाम स्वरूप मूल सिद्धान्तोकी मुख्य बाते महावीर से बहुत पहले सूत्र रूप धारण कर चुकी होगी।



१ The Bhagawata purana endorses the view that Rsabha was the founder of Jainism. There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rsabhadeva the first tirthankara. There is no doubt that Jainism prevaild even before vardhamana or parswantha. The yajurveda mentions the names of three tirthankaras - Rsabha, Ajitanatha and Aristanemi."

Indian Philosophy Vol. I p. २८७.

२ The uttardhyana sutra, Introdution. page २१ "we ought also to remember both the jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor parsva having almost certainly existed as a real person and that, conseduently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

डॉ. लॉहा,[१] प्रोफेसर स्टिवेन्सन[२] आदि आधुनिक विद्वानो के विचार भी जैन धर्म को अतिप्राचीन स्वीकार रहे है। डॉक्टर[३] हेनरिक जिम्मर ने "फिलॉसफीज ऑव इण्डिया" में जैन धर्म को वैदिक धर्म से निराला और प्राङ आर्य काल का लिखा है। भारत के अनेक विद्वान भी इस बात को स्वीकार करते है।[४]

१ Historical Gleaning's p. 78

२ It is seldom that Jainas and Brohmanas agree that I do not see, how we cen refuse them credit in this instance, where they do so."

—Kalpasutra, intro p.xvI.

३ Jainism does not derive from Brahmana-Aryan sourees, but reflects the cosmology and authropology of a much older, per-Aryan upper class of northeastern India.... .. ...parsva, the 23rd tirthankara is the first of the long series whom we can fairly visualize in a historical setting."

— Dr Heinrich zimmer,
"The philosophies of India," pp.

४ Jainism hars, however, a history much older then Mahavira at lest two and half centuries older. Its beginning may perhaps be traced . ...to pre-Aryan Indion thought."

— Dr. A. C. Sen, The Indo-Asion culture I 1.78.

The deep strain of pessimism that characteresing upanisadic thought in common with Buddhism, Jainism and the samkhya, can hardly be said to be historically more correct, therefore, to regard upanisadic as much as Jaina and buddhist thoughts as having their roots in nonvedic than in vedicideas"

— Dr. B. B. Bhattacharya, The indo Asion culture I.1

The Jain ideas and practices must have been current at the time of Mahavira and independently of him. This combined with other arguments leads us to the oqinion that the Nirgranthas (Iainas) wre really in existence long before Mahavira, who was the reformer of the already ezisting sect.

prof. James, Indion Antidnary, vol Ix p. 162.

इन सब प्राचीन और अर्वाचीन प्रमाणो के प्रकाश में यह स्वतः सिद्ध है कि जैन धर्म भारत का अत्यन्त प्राचीन धर्म है श्री श्रमण भगवान महावीर देव इस धर्म के सस्थापक और प्रवर्तक नहीं हैं, अपितु अतीव दीर्घकाल से चले आरहे धर्म के चौवीसवे तीर्थंकर है। वास्तव में इस जैन धर्म के निरुपक प्रथम तीर्थंकर भगवान् श्री ऋपभदेवजी है, जो नाभि कुलकर और मरुदेवा के पुत्र थे। तीर्थङ्कर वास्तव में कोई ईश्वर का अवतार नही है, और न पुनः पुन. अवतार लेने वाले अवतारी। अपने बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम के बल पर प्रगति पथ मे बढते-बढते, तीर्थकृत्व प्रकृति के लाभोदय से तीर्थंकर बनते है। आयुष्य की समाप्ति के समय शेष रहे समस्त कर्मों का संक्षय करके निर्वाण प्राप्त होते हैं, अतः वे जन्म–मरण से मुक्त हो जाते है, इसलिये उनका पुनर्जन्म और पुनरावतार नही होता।

प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्री ऋषभदेवजी के निर्वाण के बाद से अब तक की दीर्घ कालावधि में जब भी इस पावन शासन पर शिथिलता का हमला हुआ तब इस शासन को व्यवस्थित और सुस्थिर करने के लिये श्री अजितनाथ प्रभु आदि तीर्थङ्कर भगवन्तों के मार्ग दर्शन का लाभ मिला। किन्तु यह अवसर्पण काल है। यह प्रभाव ह्रास प्रधान है। इस काल मे प्रत्येक वस्तु पदार्थ और व्यवस्था पर ह्रास का चक्र अबाधगति से गतिशील रहता है।

तेइसवें तीर्थङ्कर पुरुपादानीय भगवान श्री पार्श्वनाथजी के निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे ही ह्रास के चक्र का तीव्रतम हो

गया। पापाचार, अत्याचार, दुराचार, कामाचार और ईर्ष्या घृणा राग द्वेष के बलवान् हमलो ने धर्म, धर्माचार्य धर्मोपासक और राजतत्रों पर अपने हाथ फैला दिये थे। जनजीवन मे से सत्य शालीनता और सरलता भाग गये थे। हीन भावनओ का उमडाव द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ रहा था। वादों की विचित्र उलझनो मे मानवता आहे भर रही थी। जातिवाद का भूत ताडव कर रहा था। अस्पृश्यता ने सब को त्रास के कटघरे मे बद कर रखा था। श्री केशीकुमार के वेदना–विह्वल शब्दो मे कहे तो–

१"आज चारो ओर अधकार ही अधकार छाया है, सीधे सादे और भद्र जीव इस अधकार मे इधर उधर भटक रहे है। इस भयंकर अंधकार की कालरात्रि का कब अत होगा? कौनसा सूर्य इस पृथ्वी पर प्रकाश रश्मियां बिखेर कर, इस संसार को आलोकित करेगा?"

ऐसी महान् विडम्बना से त्रस्त मानवता को संजीवन–शक्ति प्रदान करने के लिये क्षत्रीयकु ड नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गंभ से चौइसवे तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् श्री महावीर देव का जन्म हुआ। निडर निश्चल और अचल भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही शासन की नीवो के धून का निष्काशन कर दिया। जैन भाषा में यह तीर्थ का पुन. प्रवर्तन था।

वास्तव में जैन धर्म भारत और भारतेतर देशो के सब धर्मो में प्राचीन है।



१— अंधियारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो वहू ॥
को करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगम्मि पाणिण ॥ उत्तरा०. २३/२५,

महाप्रभु के बाद



श्री श्रमण भगवान् के निर्वाण के साथ ही साधना की सर्वोच्च और अन्तिम श्रेष्ठ तीर्थङ्कर-परम्परा भारत से समाप्त हो गयी। अवसर्पण काल का पांचवाँ आरा आरभ हुआ। प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी और पाचवे गणधर श्री सुधर्मा स्वामी के निर्वाण के बाद, जिन निर्वाण के चौसट्ठवे वर्ष में श्री जबु स्वामी के निर्वाण के साथ ही प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्रीऋषभदेवजी से चली सर्वज्ञ सर्वदर्शियों की परम्परा समाप्त हो गयी। भारत से ज्ञान-विज्ञान की सर्वोच्च और परमोच्च साधना के साधक तथा सिद्धि दोनों लुप्त हो गये।

समर्थ मुनि पुंगव शासनध्वज सँभाले थे, पर काल प्रभाव सबल, प्रबल और बलिष्ट हो रहा। निरतिचार साध्वाचार की चरम सीमा पर विहार करने वाले श्रमण संघ मे आचारशिथिलता ने कही-कही दीखावा दिया। आचार-विचार की प्रोज्ज्वलता श्रमण सघ का बल है, और यदि इसी पर काल प्रभाव ने हाथ मार

दिया तो भविष्य संदेहों और संशयों के अंधड़ में फँस जाता है कहीं-कहीं सिद्धान्त प्रतिपादन पद्धत्ति पर मतभेद पूर्ण व्याख्याएं स्वमत् पुष्टि के मार्ग प्रशस्त करने लगी।

काल की इस क्रूर मजाक को समर्थ मुनि पुंगवों ने नामशेष करने के लिये सबल और सशक्त प्रत्यन किये, उन्हें सफलताएं भी मिलीं। पर विधि का विधान उल्टी गति से चल रहा था। समर्थ मुनि पुंगवों ने भीतरी खतरों का सफाया किया, तो बाहरी खतरों ने ताण्डव मचा दिये। मुनि, ग्रहस्थ दोनो ने उन खतरों का सफाया किया, तब सत्ता के भूखे राजाओ के पारस्परिक सघर्ष-सग्रामों से उत्पन्न विडम्बनाओ ने धर्माचार्यों और धर्मोपासकों के सामने अव्यवस्था और त्रास के बवंडर खडे कर दिये तो उधर प्रकृति के भी क्रूरतम खिलवाड़ ने परेशानियो के पर्वत ढहाने मे कसर नहीं रखी, बारह-बारह वर्षों तक जल ही नही, अन्न और जल के लिये मानवगण तरस रहा था, हजार-हजार स्वर्ण मुद्रा देने पर भी मुट्ठीभर दाने नसीब नही होते थे। तब मुनिगण की रक्षा एक ज्वलन्त समस्या थी। जिनवाणी के रक्षण का प्रश्न भी मुनि-गण के सामने आया। जैसे-तैसे करके ऐसे दुःखमय काल को पूरा किया। बारह काली काल अनेक ज्ञानी-ध्यानी, तपस्वी, गीतार्थ मुनिवरो का ग्रास कर गया। सुकाल हुए। धर्माचार्य व्यवस्था में लगे। बडी कठीनता से वे संभल ही रहे थे और धर्म प्रचार में जूटे थे कि काल स्वभाव ने फिर अपना चेहरा बदला। सत्ता के मद से मदान्ध और परधर्म के लिये काल बने राजा पुष्यमित्र की इस क्रूरतम घोषणा ने सीमा लांघ दी—

"यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्यहं दीनारशतं दास्यामि,,

— दिव्यावदान,

जो मुझ को श्रमण१ का माथा लाकर देगा, मैं उसको सौ दीनार दूँगा ।

दु.ख, कष्ट, परिताप, सन्ताप, परिषह और उपसर्गों के ऐसे क्रूरतम अत्याचारों के अधड के बीच इस धर्मशासन को सुरक्षित रखना बडी विकट समस्या रही है । किन्तु कष्ट और परिताप सहकर भी श्रमणो, श्रमणाचार्यो और श्रमणोपासकों ने इस धर्मध्वज को स्थिर और प्रतिष्ठित रखा । कभी-कभी धर्मान्ध और झनूनी विधर्मियो के क्रूर आक्रोश से इस शासन की सुरक्षा के लिये विरत अविरत उपासको को अपने प्राणो से भी खेलना पड़ा, तो वह भी मजूर रहा पर धर्मध्वज को फहराये रखा ।२



१—"श्रमण" इस नाम से प्राय. जैन साधु प्रसिद्ध है ।

२—अथ प्रवन्धशतकर्ता रामचन्द्रस्तु तेन नृपापसदेन, तप्तताम्रपट्टिकायां निवेश्यमान:—

महवी ढह सचराचरह जिणि सिरि दिन्हा पाय ।।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होइ तु होउ चिराय ।।

इत्युदीर्य दशनाग्रेण रसनां छिन्दन् विपन्न एव व्यापादयांचक्रे ।।

—श्री प्रबन्ध चिन्तामणिः ।। पृ ९७

(अ)स(कपर्दि)नृपतिना प्रसादीकृतां मुद्रामासाद्य महता महेन समधि गत निज सौधे विश्रम्य निशि नृपनि विधृतः समानप्रतिष्ठैहेभिभवितुमारब्ध ।

जो करिवराण कुभे पाय दाऊण मुत्तिए दलइ ।
सो सीहो विहिवसओ जम्बूय पय पिल्लण सहइ ।।

इत्यादि विमृशन्कटाहिकायां प्रक्षेपकाले —

अर्थिभ्य: कनकस्य दीप कपिशा विश्राणिता.कोटयो ।।
वादेषु प्रतिवादिनां विनिहिता शास्त्रार्थगर्भ गिर: ।।
उत्खातप्रतिरोपितैर्नृपतिभि. शारैरिव क्रीडित ।।
कर्त्तव्य कृतमर्थिता यदि विधेस्तत्रापि सज्जा वयम् ।।
स सुधीरिति काव्यमधीयस्तथैव व्यापादयां चक्रे ।

धर्मोपासक१ की सुरक्षा के लिये श्रीकालिकाचार्य जी को सशस्त्र अभियान करना पडा। अनेक स्थानो मे अनेक बार शास्त्रार्थ सभाओं में विपक्षियो से शास्त्रार्थ भी करना पडे। किन्ही वितडावादियों मायावियों के विवादो एव मायाचक्रो से उपासक और धर्म की रक्षा के लिये आर्य मल्लवादी आचार्य सिद्धसेन, आर्यखपुट, आचार्य जीवदेव सूरि, तथा श्री हेमचन्द्राचार्य आदि को द्रुत और दृढ प्रयास भी करना पडे।२ अनेक आचार्यो मुनियो और उपासको के समवेत और व्यक्तिश प्रयत्नो और प्रयासों का सुफल है कि यह विजयवन्त धर्मशासन आज तक मौजूद है, और आगे भी हजारो वर्षो तक मौजूद रहेगा।

श्रमणसघ जो जैन शासन का प्रधान मुख्य और मूर्धन्य अग है। जिसकी आचार–विचार, तप–त्याग और सादगीपूर्ण जीवन पद्धति का सानी दुनिया का अन्य कोई साधु नही है। इस मुनिसघ पर भी कभी-कभी आचारशैथिल्य ने अपनी काली छाया डाली तब इस आचार शिथिलता को निर्वासित करने के लिये समर्थ शासन प्रभावको और युगप्रवर्तको ने क्रियोद्धार करके या समाचारी प्रचलित करके अथवा सारणा, वारणा, चोयणा पणि-चोयणादि का मार्ग निरर्थक होने पर गच्छ त्याग३ तक करके या



१ — बारस सूत्र पृ ८३ —श्री प्रवन्धचितामणि.६

२ देखो प्रबन्धकोष, प्रतबन्ध चिन्तामणि तथा विक्रमादित्य चरित्रगत विवरण।

३ — अथान्यदा कालवशेन सर्वान्, प्रमादिन सूरिवराश्च साधून्।
त्यक्त्वा गता स्वर्णमही पुरस्या–नेकाकिन. सागरचन्द्र सूरीन ।।५७।।
बारसा सूत्रे–कालिकाचार्य कथा– ८८

शिष्यो को शिक्षा देने के लिये वेशपरावर्तन करके भी उन्हे मार्गगामी बनाया।[1]

शासनप्रभावको और युगप्रभावको के प्रयत्न सफल भी हुए, परन्तु कुछ वर्षों के बाद फिर शिथिलता उभर आयी, तव फिर किसी समर्थ युगपुरुष ने क्रियोद्धार करके, उसका निवारण किया। इस प्रकार एक परम्परा युगप्रभावको और युगप्रवर्तको की हो गयी। इस परम्परा मे अनेक स्वनामधन्य आचार्यपु गव हुए है। जिन्होने अनेक कष्ट और उपसर्ग सह कर त्याग विराग और आत्मशुद्धि की परम्परा को सजीव रखा।

सबोध प्रकरण, संघ पट्टक आचार्यो की जीवनियाँ तथा गच्छों की पट्टावलियो और आगम तथा आगमेतर ग्रन्थो के तलस्पर्शी अध्ययन से पता लगता है कि जव जब श्रमणसघ मे शिथिलता के वातावरण मे चैत्यवास पनपा और श्रमणसघ आचारशिथिलता का शिकार हुआ तब उसका दलन करने वाले युगप्रभावक हुए है। इस धर्मशासन को व्यवस्थित रखने वाले स्वनामधन्य क्रियोद्धारक आचार्यवर्यो मे आचार्यवर्य तपा श्री जगच्चन्द्रसूरिजी, चैत्रवाल गच्छीय श्री देवभद्र उपाध्याय,[2] श्री आनद विमलसूरिवर,[3] श्री



१— सिद्धसेन दिवाकर को मार्गगामी बनाने के लिये उनके गुरु वृद्धवादी ने यह प्रयत्न किया था।

२— य. क्रियाशिथिलमुनिसमुदायं ज्ञात्वा गुर्वाज्ञया वैराग्यरसैकसमुद्र चैत्रग–गच्छीय श्री देवभद्रोपाध्याय सहायमादाय क्रियायाभोग्यात् हिरलाजगचन्द्रसूरिरिती ख्यातिभाक् बभुव। वि पंचाशीत्यधिकद्वादशशत १२२५) वर्षे तपा,, इति प्रसिद्ध।

—श्रीपट्टावली समुच्चय प्र. भा-पृ०५७

सत्यविजय पन्यास एव श्री मद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज का नाम गौरव और गर्व से लिया जा सकता है।

श्री वीर निर्वाण की तेईसवी शताब्दी मे भारतीय वातावरण ने पुन करवट बदली। श्रमणसघ मे पुन आचारशिथिलो का बाहुल्य हो गया स्वनामधन्य युगपुरुषो के दृढतम प्रयत्नो की ज्योति मद होने लगी। सामाजिक और धार्मिक तथा राजकीय वातावरण में हताशा, निराशा और उदासीनता का माहोल जम गया था। अपनी सत्ता और अपने वर्चस्व के बढावे की लालसा मे फॅसे तत्कालीन राजाओ नवाबो और ठाकुरो मे आये दिन संघर्ष हो जाते थे। निरपराध प्रजा का कत्लेआम साधारण बात रह गयी थी। सर्वत्र अव्यवस्था का बोलबाला था। तब विदेशियो ने भी अपना हाथ पसार दिया। अदर अंदर की फूट ने उन्हे भारत का सर्वेसर्वा बना दिया, देश परतत्रताकी जकडमे फॅस गया। इधर जैन श्रमणसघ भी आचार शिथिलता के अधड में फॅस गया। शिथिलता के बढ़ते कदम नेतृत्व तक पहुँच गये थे। कौन किसको पूछता ? बड़ा आपाधापा का समय था। पवित्राचार शिथिलता के पैरो तले कुचल रहा था। यश, ख्याति, प्रख्याति,



१—यो भगवान् क्रियाशिथिलबहु यतिजन परिकरितोऽपि सवेगरगभावितमात. जिनप्रतिमाप्रतिषेध–साधुजनाभावप्रमुखोत्सूत्रप्ररूपणप्रबल–जलप्लाव्यमान जननिकरमवलोक्य करुणारसावलिप्तचेतो गुर्वाज्ञया कतिचित्सविग्नसाधुसहायो वि. द्वयशीत्यधिकपंचदश शत (१५८२) वर्षे शिथिलाचारपरिहाररूप क्रियोद्धरणयानपात्रेण समुद्धृतवान्।

श्रीपट्टावली समुच्चय प्र भाग पृ०६६।

कनक, कीर्ति, मान, सन्मान आदि से दूर रहने में अपना आत्महित देखने वाला मुनि इन सबको प्राप्त करने में अपने जीवन की प्रगति और उत्कर्ष समझने लगा। तप,त्याग,सयम, आत्मस्वरूपानुप्रेक्षा,ममत्व, त्याग और मोहोपशम के लिये सदैव जागृत रहने वाला मुनि नानाविध प्रपचो – आडम्बरो मे फँस गया। विराग की मस्ती पलायन कर गयी थी ! भावना, अनुप्रेक्षा तथा ध्यान चिन्तन का आनन्द – वैभव के रँगीले वातावरण के तले आहे भर रहा था। मत्रो, तत्रो और यंत्रो के प्रयोगो के उन्माद ने आत्मजागृति को अपने अङ्क मे दबोच दिया था। अपरिग्रह सचय की बाहो मे तडप रहा था। ऐसी दशा थी उस समय।

जैन इतिहास मे यह घटना प्रथम नही थी। पहले भी कुछ ऐसा ही वातावरण एक से अधिक बार हो गया था। जल–प्रवाह रुकता है और खड्डो मे रहा जल सडने लगता है। यह जितना स्वाभाविक है, उतना ही धर्म – जीवन मे शिथिलता का प्रवेश और वातावरण का सदोप बनना भी स्वाभाविक है।

कोई विराट् मानव समुदाय विजय अभियान पर निकले और मार्ग मे थकान के कारण विश्राम लेने को बैठे और फिर तो उस विराम को पकडे ही रहे वैसी यह घटना है।

श्री जिन प्रवचन मे कहा गया है कि आत्मा अनादि काल से मोह मायादि के ससर्ग मे रही है, अत· प्रायः वह अपने निज स्वरूप को भूल कर प्रमाद के वशवर्ति हो गयी है। प्रमाद इसे अपने गन्तव्य की ओर बढने नही देता। कभी – कभी आत्मा

को अपने स्वरूप की झांकी होती है और वह निजस्वरूप की प्राप्ति के लिए ललचाती है और प्रयत्न करती है, तो प्रमाद विषय, कषाय, मदादि उसके मार्ग मे भाँति–भाँति के अवरोध उपस्थित करते है। मार्ग पतित करके उसे सासारिकता मे मग्न कर भी देते है। फिर कभी वह चेतता है तो उसे सहारा भी देने वाला कोई मिल जाता है। इस प्रकार उत्थान – पतन के झूले मे झूलती आत्मा प्रगति के पथ मे शनै.–शनैः आगे बढती है। प्रमाद की इस प्रकार की भयावहता से साधक को साव-धान करने के लिए बार – बार कहा गया है—

"समयं गोयम मा पमायए"

इसी प्रमादवृत्ति का फल है कि श्रमण सङ्घ श्री वीर निर्वाण की २५ शताब्दियो में अनेक बार आचार शिथिलता का शिकार हो गया। कालप्रभाव, नगर निवास, गृहस्थों का सतत् परिचय ससर्ग, राज्यों के पारस्परिक विरोध, विरोधियों को परास्त करने की चिंता और आवश्यकता आदि अनेक निमित्त आचार शैथि-ल्य के सहयोगी है। किन्तु इतना सब होते हुए भी गत पच्चीस शताब्दियो मे श्रमण, श्रमणाचार्यो और श्रमणोपासकों के कार्यो कर्तव्यों और प्रभावक कार्यो का भी अपना बड़ा तेजस्वी एव यशस्वी इतिहास है।



नगर – जन्म – वंश



धर्मनेता प्रमाद की सुखनिद्रा के अङ्क मे सोये रङ्गीले स्वप्नों के उपवन में विहार कर रहे थे। तब इधर उपासक वीतराग की उपासना को भूलकर लोभ, लालच, छल और कपट की आपूर्ति के लिये सरागी देवों की उपासना तथा मनुहार – मनौतियो के भ्रम से भ्रमित हो रहा था। चमत्कारो की चकाचौध के कारण विवेक और विचार को भूल-सा गया था। आत्ममङ्गल और आत्महित के लिये किये जाने वाले अनुष्ठानो में स्वार्थपूर्ति का प्रपंच आ घुसा था।

तब शान्त, सौम्य, तपस्वी, ज्ञानी और जिनराज भक्त गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म० ने आचार – विचार की दृढ़ता के बल पर शिथिलता को मिटाने का जबरदस्त कार्य प्रारम्भ किया था। मार्ग विघ्न, बाधाओं और परेशानियों से भरा था। शिथिलो ने आपको परेशान करने में कोई कसर नही

रखी थी, फिर भी आपने अपनी कार्य और प्रचार – पद्धति में परिवर्तन नही किया ! परिवर्तन करते भी क्यों ? जब सत्य सत्य है तो उसके पालन एवं प्रचार में गड़बडी क्यों की जाय ? शिष्यों, उपासकों और भक्तों के मुख से जब विरोधियों के द्वारा दी गई यातनाओं का विवरण हम सुनते है तो मन–मस्तिष्क में विचारों की झझा उठती है कि इस व्यक्ति मे ऐसी कौनसी प्रखरता, महत्ता और शक्ति थी कि जिसके बल पर विरोधियो के प्रबलतम विरोध के बावजूद भी सनातन शुद्ध जिन-मार्ग का प्रचार, प्रसार और पालन ही जीवन का ध्येय रहा । आपने जिसको यावज्जीवन परम उत्साह से किया ।

अप्रमाद, निर्दोष और निरतिचार संयम पालन एवं जिनराज भक्ति ने आपके मार्ग की सब बाधाओं को दूर किया । वास्तव में वीतरागोपासना का ही सुफल था कि आप अपने जीवन को सरल और सरस बना सके थे । वीतराग की उपासना जैसी सशक्त और समर्थ नही है — अन्य की उपासना ! क्रियोद्धार के पहले और बाद में सदा सर्वदा आपके जीवन का ध्येय और लक्ष्य था — मात्र वीतराग उपासना ! उपासना उपासक के जीवन का दीपक होती है । इस दीपक के बल जो चला है वह सफल मनोरथ होता है । गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर जी महाराज का जीवन वीतराग उपासना और वीतराग उपासना के प्रबलतम प्रचारक का जीवन है ।

जब जीवन के आँगन में यौवन खेलने लगा ! मकरध्वज अपने

तीर तरकस सजाकर मनोमन्दिर में वासना की उत्ताल तरङ्गों का तूफान मचाने को उद्यत हुआ कि गुरु - वाणी के पान से जीवनउद्यान में वैराग्य का फूल खिला। मकरध्वज की महनत पर पानी फिर गया। पराजित होकर, उसे पलायन करना पड़ा। आपने प्रयाण कर दिया साधना के उपवन मे बैठ कर, आत्ममगल पाने को।

आपका जन्म ओसवाल कुल के पारिख गौत्र में हुआ था। चदेरी के राजा खरहत्थ ने विक्रम सवत् ११७० मे आचार्यप्रवर श्री जिनदत्तसूरि के उपदेश से जैन धर्म स्वीकार किया था। उस राजा की वश परम्परा मे पासुजी नामक प्रसिद्ध रत्नो का व्यापारी हुआ, जो आहेड नगर के राजा चन्द्रसेन की सभा मे रत्नो की परीक्षा का कार्य किया करता था। किसी दिन दूर देश से आये किसी व्यापारी ने एक विचित्र रत्न राजसभा में प्रस्तुत किया। पासुजी ने उस रत्न के रूप, गुण और मूल्य का परीक्षण किया। राजा चन्द्रसेन पासुजी की बुद्धि प्रतिभा से अतीव प्रसन्न हुआ। उस दिन से राजा प्रजा सब उन्हे पारखी (परीक्षक) कहने लगे। आगे चलकर पारखी का पारख हो गया। पासुजी के वशज तब से पारिख कहलाये। पारिख गौत्र मे पैदा हुए लोग व्यापार व्यवसाय, संग्राम, अकाल और रोगादि कारणों से अनेक स्थानों पर जाकर बसे। मालवा, मारवाड़, गुजरात, उत्तरप्रदेश तक इस परिवार के लोग जा बसे। दो भाइयो के बिखरे परिवार का एक भाग मालवा के निम्बाहेडा, जावरा और रतलाम में आवाद हुआ, तो दूसरा भाग भरतपुर जाकर स्थिर हुआ। भरतपुर में



बसे पारिख परिवार में ऋषभदासजी एक प्रसिद्ध व्यापारी और ईमानदार व्यक्ति थे। मझौले कद के ऋषभदास नगर के प्रसिद्ध और गणमान्य व्यक्ति थे। भरतपुर से बाहर तक आपका व्यवसाय फैला था। वंश परंपरा का खानदानी धधा—जवाहरात का धधा करते हुए सोना चाँदी का व्यापार भी करते थे। पुत्र माणिकचन्द्र के जन्म के बाद साहुकार ऋषभदासजी और उनकी पत्नी बड़े मनोयोग से धर्माराधना कर जीवन यापन कर रहे थे। विक्रम संवत् १८८३ के ग्रीष्म में एक शुभ रात्रि में पारिख ऋषभदासजी की पत्नी केशरबाई ने अपने शयनागार में आराम से सोये हुए, एक मनोरम स्वप्न देखा। स्वप्न था प्रोज्ज्वल कांति से कांतिमान रत्न एक तरुण व्यक्ति ने केशरबाई को दिया[१]। स्वप्न देख कर जागी केशरबाई ने ऋषभदासजी को स्वप्न कहा बुद्धीमान साहुकार स्वप्न वार्ता सुन कर बोले स्वप्न शुभ है। निकट मे ही रहते किसी स्वप्नानुभवी को पूछा। तब उसने भाग्यशाली पुत्र रत्न की प्राप्ति का संकेत किया।

गर्भ के अनुभाव से प्रसन्नचित्त माता केशर का मन धर्म-ध्यान की ओर लगा। गर्भ की भली भाँति पालना की। विक्रम सवत् १८८३ की पौष शुक्ला सप्तमी को शुभ समय मे माता केशर ने सर्व गुण सम्पन्न पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुण्यमूर्ति पुत्र रत्न

१ गर्भाधानेय साप्राक्षीत् स्वप्ने रत्न महोत्तमम् ॥

—श्रीराजेन्द्र गुणमजरी पृ ८

का मुख देखकर पति – पत्नी तथा परिवार – परिजन सब प्रसन्न हो गए ।

परिवार, परिजन और कुटुम्ब की प्रसन्नता के केन्द्र बालक का माता - पिता ने स्वप्नानुसार नाम 'रत्नराज' दिया ।

विशाल-भाल, तेज और ओजपूर्ण मुख, आजानबाहु, सप्रमाण कर्ण, विशाल वक्ष, मझौला कद, इकहरा वदन, गुलाबी आभा बिखेरते नख, तेजस्वी नयन, सुहानी नासिका, गम्भीर वाणी, विनय, विवेक, मर्यादा, शालीनता और नम्रता की मस्ती से मस्त जीवन रत्नराज, बड़े भाई माणिकचन्द, बहन गङ्गा और प्रेमा तथा माता - पिता को वल्लभ था । माता केशरबाई के अङ्क का मोती सुदर्शन सशक्त रत्नराज पिता ऋषभदासजी के कुल का दीपक आधार शोभा और कीर्ति का विस्तारक था ।

भाई, बहन और परिवार के हाथों में खेलते बालक रत्नराज की बाल क्रीड़ाओं में भावी की उज्ज्वलता झलक रही थी । बाल्य-काल में ही हो गये साहसिक, बुद्धिमत्ता और पराक्रम के कार्य, रत्नराज के उच्च जीवन के सीमा चिह्न थे ।

व्यवहार का कहना है कि भावी में होने वाले लाभ हानि समय से पहले ही हमारे सामने प्रकट हो जाते हैं । उन्हे हम बेपरवाही से न समझ सके यह एक अलग बात है । होनहार बालक की बाल सुलभ प्रवृत्तियों से उसके भविष्य का एक निश्चित खाका भी हमारे सामने आ जाता है । तभी तो व्यवहार मे कहा है—

"पूत के पग पालने"

माता - पिता का प्यारा और दुलारा रत्नराज बड़ा हुआ। माँ अपने आँगन में खेलते बालक रत्न को देख – देख प्रफुल्ल हो मनोरथों के स्वप्निल विचारों मे विलीन हो जाती।



अभ्यास – यात्रा

नीतिशास्त्र का कहना है कि—

> प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनं ।।
>
> तृतीये नार्जितं धर्मं, चतुर्थे कि करिष्यति ।।

बाल्यकाल मे विद्याभ्यास नही किया, तारुण्य मे धनोपार्जन नही किया, प्रौढावस्था मे धर्माराधना नही की, वह बुढ़ापे में क्या करेगा ? मतलब कि व्यर्थ जाता है जीवन उसका । इस प्रकार विचार करके माता पिता ने रत्नराज को अभ्यास के लिये बिठाया । प्रखर बुद्धि वाला रत्न दत्तचित्त हो अध्ययन मे लग गया । पूर्व भव में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया होगा [illegible] सीख लिया और कला मे प्रवीण होगया । [illegible] जिस उम्र मे पढ़ने के लिये तैयार होते है, तब [illegible] अभ्यास पूरा कर लिया ।

समय अजस्र गति से जारहा था। उम्र का तेरहवाँ वर्ष समापन हुआ। चौदहवाँ प्रारम्भ हुआ। चैत्र आया। व्यापार के लिये दूकान पर जाने से पहले तीर्थ यात्रा करना चाहिये। पिता की इस आज्ञा को स्वीकार करके दोनों भाई मेवाड़देशालङ्कार श्री प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेवजी के वन्दन के लिये धुलेवा हेतु रवाना हुए। उदयपुर पहुँचे। उदयपुर से धुलेवा तक का मार्ग बडा विषम और विकट है। अरावली की आड़ी-टेढ़ी घाटियो ने इस मार्ग को दुर्गम और भयावह बना दिया है। आदिवासी भीलों की लूट-खसोट का भय यात्रियो पर परेशानियाँ ढादेता। यद्यपि मेवाड़ के महाराणा ने यात्रियों की सुरक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था की थी। फिर भी यदा-कदा आदिवासी किसी यात्री को लूट ही लेते। माणिकचंदजी उदयपुर से यात्रियों के विशाल समुदाय के साथ चले। पर्वतीय सुषमा के दृश्य देखते-देखते पर्वतो के कठिन उतार-चढ़ाव चढ़ते उतरते यात्री केशरियानाथ की जय बोलते आगे बढ़ रहे थे। सहसा पर्वतो के आड़े-टेड़े मोड़ से कुछ यात्री एक पगदंडी पर बढ गये। उनके मन मे था, हम आगे निकल कर यात्रियों को चकित करें। उस यात्री समूह में माणिकचंदजी और रत्नराज भी थे। पगदंडी पर बढ़ते हुऐ वे पर्वत के दूसरे मोड में भटक गये। पर्वतों के उस मोड़ पर से यात्री आगे बढ़े कि लुटेरों ने उन्हें घेर लिया। घबराये यात्रियों ने अपने बचाव के लिये प्रयत्न किये। पर सब व्यर्थ। बचाव के प्रयास निष्फल होने पर सब भयभीत हो कर, एक महुवे के झाड़ के नीचे बैठे। अमरपुर के सौभाग्यमल की लड़की बेहोश होकर गिर

गयी। एक चिंता में दूसरी ने बढ़ावा किया। सब यात्री श्रीकेश-रियानाथ को याद कर रहे थे। माणिकचंदजी के पास ही रत्न-राज खड़े थे। सब यात्रियो की व्यग्रता और चिन्ता नष्ट करने के लिए, वे आगे बढ़े। भयभीत सौभाग्यमल को इशारे से अपने पास बुलाया। समीप ही सोते में से पानी लाने को कहा। वे आगे बढे, पानी लाये। रत्नराज ने हाथ धो कर, अपने आस-पास जल से एक वर्तुल बनाया, और बैठ गया। थोडी देर मे साधु जैसो निश्चलता और समाधि देख कर सब स्तब्ध थे। यह बालक क्या करेगा ? यह प्रश्न सब के अन्तस् में उठ रहा था। कौन करता समाधान ? बडे भाई माणिकचदजी रत्नराज के ध्यान को देख कर आश्चर्य चकित थे।

बेहोश पडी लड़की होश मे आयी। उसने तूफान मचा दिया। रत्नराज का ध्यान भग करने के लिए, उसने प्रयत्न किए, परन्तु ऐसा सभव नही हो सका। ध्यानभंग नहीं कर सकी। आधे घन्टे के बाद रत्नराज ने आँखे खोली। जलपात्र मे से जल लेकर लड़की के मुख पर छिटका। वह एक दम तूफान मचाने लगी। थोड़ा जल फिर छिटका कि आवेश खतम हो गया। यात्रीगण खुशी हो कर, आगे बढ़े। दो-तीन मील चले, तब कही रास्ते पर आये। सब यात्री मिले। आगे बढ़े कि आदिवासियो ने घेर लिया। भयभ्रान्त यात्री बचने का मार्ग खोजने लगे। चारों ओर लगोटिया आदिवासी तीर तरकस लिये खड़े थे। तब बालक रत्नराज ने जोर से केशरियानाथ की जय बोली। सारे यात्री भी समवेत् हो जय-जयकार करने लगे।

केशरियानाथ की जय का प्रघोष बार – बार हो रहा था । रत्नराज हाथ में रूमाल फहराते हुए आगे बढ रहे थे । सब यात्री भी पीछे - पीछे बढ़ रहे थे । सामने से चार घुड़सवार आरहे थे । भीलों ने उन्हे देखा, तब उन्होने वहाँ से भागने में ही अपना बचाव देखा । यात्री बच गये ।

धुलेवा पहुँच कर सबने तीर्थपति के दर्शन, वन्दन, पूजन और भक्ति करके लाभ लिया । सौभाग्यमलजी ने दोपहर को रत्नराज से पूछा कि तुम बालक हो, इस उम्र में यह मत्र साधना कब की ? रत्नराज बोले मेरी माता ने यह मत्र दिया है ! चिन्तामणि है यह मत्र ! इसे महामत्र 'नवकार' कहते है । मै प्रतिदिन इसकी आराधना करता हूँ । रत्नराज की बात सुनकर वे प्रसन्न हुए ।

संध्या को श्री केशरियाजी प्रभु की आरती करके अपने निवास स्थान पर सब आये । माणिकचन्द और सौभाग्यमल बातों मे लगे । रत्नराज बात का मतलब समझ गये । हँसते हुए बोले– यह मानव जीवन विषय वासना के कीचड़ मे गँवाने के लिये नहीं है । मैं तो आत्म–कल्याण करने के लिये इस जीवन का उपयोग करूँगा । यह सम्बन्ध की बाते सब व्यर्थ है । रत्नराज के इस प्रत्युत्तर से बात समाप्त हो गई ।

धुलेवा में कुछ दिन ठहर कर दोनों भाई उदयपुर, करेड़ा आदि की यात्रा करते हुए वापस भरतपुर आये ।

卐

व्यवसाय और माता पिता का वियोग



श्री केशरियाजी की यात्रा के संस्मरण हृदय पटल पर अङ्कित हो गए थे। चैत्र सुदी एकम को प्रातः रत्नराज पिता के व्यवसाय में प्रविष्ट होने के लिये दूकान पर पहुँचे । दो महिने में ही रत्नराज ने व्यापार का अनुभव प्राप्त कर लिया। दोनों भाई ने व्यापार का सारा भार उठा लिया था, अतः ऋषभदासजी अब व्यापार से मुक्त से हो रहे। धर्म, ध्यान और आराधना में वे अधिक से अधिक समय लगाने लगे । सभी स्वजनों और शहर में दोनों भाइयों के व्यवहार और स्वभाव की सराहना होने लगी। माता पिता के भाग्य की सब प्रशसा करते थे।

एक दिन भोजन आदि से निवृत्त हो कर ऋषभदासजी घर के दालान मे वैठे थे । केशरबाई सामायिक करके जीवराशि के विचार में लीन थी । छोटी कन्या पास ही खिलौनों से खेल रही थी। बडे पुत्र माणिकचन्द की पत्नी गृहकार्य कर रही थी।

तब दोनों भाइयों ने प्रवेश किया। पिताजी के समीप दोनो आ बैठे। व्यापार – व्यवसाय की बातें की। बात – बात में ही रत्नराज ने पिताजी से कहा कि अपना व्यापार यहाँ अच्छा चल रहा है, परन्तु अगर हम अन्यत्र जाकर बाजारो का निरीक्षण कर तथा देशान्तर भ्रमण करे तो व्यापार मे और भी उन्नति कर सकते है? बड़े भाई ने भी जाने का संकेत किया। पिता ने पहले तो इन्कार किया, परन्तु दोनो पुत्रों की बाते और तर्क सुन कर माता पिता ने बाहर जाने की आज्ञा दे दी।

दोनों भाई शुभ दिन देख कर घर से विदा हुए। श्री सम्मेत-शिखर, राजगृही, पावॉपुरी आदि की यात्रा करके, कलकत्ता आये। उन दिनों भारत के व्यापार का मुख्य केन्द्र कलकत्ता था। कुछ महिनों दोनो भाइयो ने वहाँ रह कर जवाहरातो का व्यापार किया। भाग्य और कुशाग्र बुद्धि के बल पर दोनो ने २५०००) रुपयों का लाभ प्राप्त किया। फिर कलकत्ता से जल जहाज से सिलोन गये। भाग्य और बुद्धि ने दोनो का साथ दिया। तीन वर्षो में दोनों ने जवाहरात और सोने चाँदी के आभूषणों के व्यवसाय से आशातीत धन कमाया।

इधर भरतपुर में ऋषभदासजी को बुढ़ापे मे रोगो ने घेर लिया तब पत्र द्वारा दोनों भाइयो को इसकी खबर भेजी। पिता की बिमारी की खबर सुनकर सिलोन का व्यापार समेट लिया। जहाज से कलकत्ता आये। भुगतान की हुण्डियाँ भुना कर, रुपये लेकर दोनों भाई घर आए। रोगशय्या पर पड़े पिता को पुत्रों

का आगमन सांत्वना का कारण बना। तीन वर्षों में ही दोनों पुत्रों ने पाँच लाख का धनोपार्जन किया। माता पिता दोनों ने यह सुना तो वे प्रसन्न हुए। परिवार में भी दोनों की प्रशंसा हुई। पिता ने घर का सारा भार और धन भी दोनों को दिखला कर सौप दिया।

दोनों भाईयों को भरतपुर के अनेक लोगों ने पुन. नगर मे व्यापार प्रारम्भ करने की सलाह दी, परन्तु रत्नराज ने माना पिता की सेवा करना हमारा पहला कर्तव्य है, यह कह कर सब को मना कर दिया। अब दोनों ने माता पिता की सेवा – सुश्रुषा और आराधना में सहकार देना चालू किया। दिन जा रहे थे, राते जा रही थी और समय भी भागा जा रहा था। माता पिता का शरीर दिन – प्रतिदिन जीर्ण होरहा था। एक दिन सुबह रत्नराज माँ के पास बैठे थे कि माँ बोली बेटा! जी घबरा रहा है। रत्नराज समझ गये और पास ही सोये बड़े भाई को जगाया। दोनो ने आँखो के संकेत से समझ लिया कि समय आगया है। माता को अन्तिम आराधना कराना प्रारम्भ कर दिया। दोनो पुत्र, पुत्री, पौत और पुत्रवधू पास मे बैठे थे। सूर्योदय होते-होते केशरबाई की आत्मा ने परलोक प्रयाण कर दिया। सुख में खेलते परिवार मे शोक छा गया। शोक सतप्त परिजनो ने अन्तिम सस्कार का कार्य निपटाया। दोनो भाईयों को क्षण – क्षण माँ की याद आरही थी। वास्तव में हर पुत्र के लिये माँ से बढ कर दूसरा होता है कौन? पर यह प्राकृतिक विधि का बड़ा विचित्र विधान है, इसके नियम के सामने सबको

नतमस्तक होना पड़ता है । संध्या हो रही थी, नजदिक के पारिवारिक जन दालान में बैठे थे, दोनों भाई माँ के वियोग में बैठे थे कि प्रेमा ने आकर दोनों भाईयो को कहा देखो ! पिताजी को क्या हो गया है ? दोनों पिता के पास गये । अन्य परिजन भी भागे आये । स्वास के उठाव से बैचेन थे ऋषभदासजी ! उपचार किये पर सब व्यर्थ गये । "टूटी की बूटी जग मे नही" सुबह होते - होते अरिहन्त ! अरि .हन्त ! बोलते ऋषभदास की आतमा भी परलोक प्रयाण कर गई । शोक में शोक बढ़ गया । दोनों भाई अत्यन्त शोकाकूल हो गए । कल माता गई और आज पिता गये । बडे - बूढों ने ढाढस बँधाया । अनित्य है यह ससार ! यहाँ आना और जाना यह अटल नियम है । कोई भी शाश्वत नही है ! कोई आज जायगा तो कोई कल !

अन्तिम संस्कार किया पिता के शरीर का और माता पिता के मरणोत्तर सब कार्य करके निवृत्त हुए दोनो भाई । परन्तु दोनों का मन कही भी नही लग रहा था । रत्नराज का मन तो माता पिता के सहसा परलोक प्रयाण से खिन्न हो गया था । उनका मन तो कही भी नही लग रहा था ।

वास्तव में यह संसार भले ही रम्य और गम्य होगा, पर मृत्यु और जन्म तथा कृतकर्मों का फलभोग बडा कष्टप्रद है । मानव ने यहाँ जन्म धारण करके अपने बल, सामर्थ्य और बुद्धि के बल पर मनचाहा किया है । सुख, वैभव और कल्पना की संपूर्ति के लिये इसने असंभव को सम्भव किया है । आकाश में सैर करने

से लेकर उत्तालतरंग सागर को पैरो तले रौंदना इसके बाएँ हाथ का खेल है। ज्ञान विज्ञान की चर्चाओ में भी मानव ने देवों तक को पीछे छोड़ दिया है। सब कुछ किया पर मृत्यु को यह पराजित नही कर सका। और कुदरत की इस करामात को नही बदल सकेगा मानव चाहे हजार हजार प्रयत्न करे यह। यह सत्य है। इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि इस मृत्यु नही प्राप्त करना है तो श्रमण प्रभु के शासन मे दिखलाये मार्ग पर चलो तो सभव होगा। यह बाते कह गये बड़े-बूढे दोनों भाईयो को। रत्नराज इन बातों को विस्तार से समझना चाहते थे। पर कौन समझावे उसे। कोई कुछ कहता तो कुशाग्रवुद्धि रत्नराज उस बात की जड़ को पकड़ने के लिये तक वितर्क करता और तब समझाने वाले निरुत्तर हो जाते।

कहावत है "दु:ख की दवा दिन है" समय बीतता गया, शोक हलका पडता गया। माणिकचंद ने व्यवसाय प्रारभ किया। रत्नराज के मन में मृत्यु, लोक, परलोक, जन्म, जीवन, कर्म, उसका फल आदि पर अनेक विचार आते, पर उनका कौन करे समाधान? फिर याद आ जाता माता पिता का वियोग। समय जाता रहा। एक दिन सुबह ही किसी मित्र ने रत्नराज को कहा— रत्न! कल परसों मुनिराज अपने नगर मे चातुर्मास के लिये पधारने वाले है। रत्नराज बोले तब तो अच्छा रहेगा। मुनिराज से ये सब प्रश्न पूछुँगा। तुम मुझे गुरु महाराज के आने की खबर देना। दोनों मित्र अपने अपने घर गये। तीसरे दिन प्रातः आचार्यवर्य श्रीमद् प्रमोद सूरिजी महाराज शिष्यों सहित पधारे। भरतपुर के भक्तों ने सोत्सव गुरुदेव को नगर प्रवेश कराया। उपाश्रय मे मुकाम हुआ।

श्री गुरु दर्शन – उपदेश



आचार्य श्री प्रमोदसूरिजी उस निर्ग्रन्थ परम्परा के प्रतिनिधि थे, जिसने ज्ञान, ध्यान, त्याग और विराग के मार्ग का दर्शन जनता को करवाया और उस मार्ग पर चलकर अनेक भाविकों ने आत्महित किया, कर रहे है तथा आगे भी करेंगे ।

निर्ग्रन्थ, श्रमण, मुनि और साधु ये सब नाम प्रायः जैन साधु के लिये ही प्रयोग होते हैं । जैन साधु ने सदा सर्वदा देश के एक भाग से दूसरे भाग तक और एक छोर से दूसरे छोर तक के प्रदेश, ग्राम, नगर आदि में पद विहार करते हुए, श्रमण भगवान् के सुखकर संदेश का प्रचार किया है । जिसके फलस्वरूप जनता में सद्विचार, सदाचार, आत्महित एव कल्याण की भावना जागृत रही है ।

स्व और परहित के चाहक मुनि एतदर्थ सदा अप्रमत्त भाव से यत्नशील रहते है । आचार्य श्री प्रमोदसूरिजी भी स्व-पर हित

के चाहक थे, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भरतपुर पधारे थे। भरतपुर की जनता मे धार्मिक रङ्ग गहरा था। वहाँ के उपासको की भावना, भक्ति और उमङ्ग देखकर ही चातुर्मास स्थिरता का निश्चय हुआ था।

प्रात:कालीन क्रिया-विधियो से निवृत्त हुए आचार्यश्री आसन पर बैठे एक दिन सूत्रवाँचन कर रहे थे। भाविक भक्तो की भावना उपदेश सुनने की थी। आचार्यश्री पाट पर विराजे। श्रोताओं में माणिकचदजी और रतनराज भी उपस्थित थे। मंगलाचरण हुआ। और व्याख्यान प्रारभ हुआ—

यह संसार सुन्दर है अथवा असुन्दर ? यहाँ प्रत्येक पदार्थ स्थिर है, या क्षणभंगुर ? रम्य तथा गम्य क्या है ? आत्मा के उत्कर्ष में, कौन साधक है ? और कौन बाधक है ? कौन हितकर है, और कौन अहितकर है ? ये रागद्वेष, कषाय, प्रमाद, आधि, व्याधि, उपाधि, आदि आत्मा के मित्र है, या शत्रु है ? इनका साथ आत्मा के लिए हानिप्रद है या लाभप्रद ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जो समाधान माँगते है ? जिनके समाधान की बड़ी उत्कठा, प्रत्येक आत्मा को लगी है। संसार की वासना मे आलिप्त और काम कषायगृद्धजीव नही पा सकते है।

ज्ञानी भगवन्तो ने, इन और ऐसे, अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। उनके अनुभव और अनुभूतियाँ है, कि यह संसार और यहाँ का सारा वातावरण, आत्मा को कर्मावरण मे आबद्ध करने

वाला है। जो है, यह मात्र एक झमेला है। स्वाद और रूप रंग में, अनुपम, किम्पाक् फल के समान, परिणाम से बड़े भयानक हैं। संध्यारंग के समान मनोरम रोचक लुभावना और मनभावना, यह सबको दीखने वाला वातावरण है, सो सब क्षणस्थायी और परिवर्तनशील है। इनमें अपना हित सुख और जीवन समझ कर, जो जीव इनमें लीन हुआ है, उसने आजतक मात्र विडम्बना, पीड़ा, कष्ट और भवभ्रमण ही पाया है। भोगोपभोग में आसक्त जीव जिन-जिन स्थानों में सुखानुभव मानता है, वहाँ–वहाँ उसे मात्र सुखाभास की आग ही झुलसाती है। आज जहाँ संयोग का हर्ष है, वहीं कल वियोग का चित्कार भी होता है। जो आज दु.ख और संताप से पीड़ित है, वह सुखी भी हो सकता है। रागद्वेष के, संयोग से, कषाय बढ़ते है, और कषाय संसार-भ्रमण बढ़ाते हैं। कषाय और रागद्वेष से आत्मा स्वभाव के आनंदमय वातावरण से पराङ्मुख होकर मात्र कर्मबंध ही करती है। कर्मबंध से भवभ्रमण बढ़ता है। भाव स्वभाव के स्वरूप को भूल कर आत्मा विभाग मे गर्क होकर नानाविध, पीड़ाए और संतापजन्य दु.खों से दुःखित होता है।

श्री श्रमणभगवान् ने अपने अन्तिम प्रवचन में आत्मा की इस प्रमादवृत्ति को इगित करके फरमाया है –

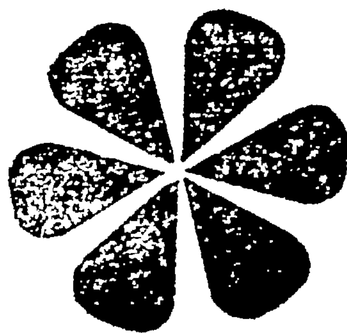
जम्मं दुक्खं जरा दुखं रोगाय मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो॥ उत्त. १९।१६।

यह ससार दुःखमय है, जन्म का दु.ख बुढापे का दु:ख, रोगों का

दुःख, मृत्यु का दुःख, अरे ! यत्र-तत्र-सर्वत्र दुःख, दुःख और दुःख है, जिसमे, यह बिचारा प्राणी क्लेश ही तो पा रहा है। समय भागा जा रहा है, रात्रियाँ दोडी जा रही है। ये सुख भोग के साधन नित्य नही है। जिस प्रकार फल झडने पर वृक्ष को पक्षी भी छोड़ देते है, वैसे ही क्षीणपुण्य मनुष्य को काम-भोगादि छोड़ देते है।[१] मुग्धजीव जिस भोग परिभोग और उपभोग मे रति-आनंद-सुख और तृप्ति का दर्शन करते है। वास्तव में यह उनका भ्रम है। काम भोगों के सेवन से क्षणमात्र सुख होता है और दीर्घकाल तक दुःख। भोग, परिभोग और उपभोग का फल रति आनद सुख और तृप्ति नही है परन्तु दुःख का पारावार है। वास्तव में ये भोग रोग के मूल, कष्टों के जनक, और मोक्ष के विरोधी तधा अनर्थ के उत्पादक है।[२]अज्ञानी मनुष्य समझता है कि–यह धन, यह पशु, यह स्वजन, परिजन, परिवार आदि सब मेरे है, मैं इनका हूँ। किन्तु वास्तव में यह मिथ्या भ्राँति है। कोई किसी का त्राण और शरण नही है।[३] रे मुग्ध जीवो ! यह मनुष्य जीवन बडा दुर्लभ है। समझो ! समझते क्यों नही ? अवसर हाथ से चला गया तो पुन. सम्बोधि का प्राप्त होना बडा दुर्लभ है। जो राते और जो दिन चले जाते है वे पुनः मिलना सुलभ नही है। अत. आत्ममगल और आत्मश्रेय के लिये अग्रसर बनो। आत्ममगल और आत्मश्रेय और आत्महित ही करने योग्य कार्य है।

१— उत्तरा० १३/३१, २— उत्तरा० १४/१३,
३— सूत्रकृतां० १/१/३/१६

दुर्लभ यह मानव जीवन प्राप्त करके जिसने आत्महित किया उसने सब कुछ किया है। निज स्वरूप का बोध उसे होता है। आत्मसुख उसे मिलता है, अत. धर्मपुरुषार्थ की ओर अग्रसर हो कर निज कल्याण करो। यही जीवन का सार है।



विचार - चिन्तन



गुरु महाराज का उपदेश सुन कर रत्नराज का मन संतोष से तृप्त हुआ। भूखे को भोजन मिला। प्यासे को जल। रङ्क बना राजा। समस्त प्रश्नों का समाधान हो गया। महोत्तम है जिनेन्द्र वाणी! हजार प्रश्न समाधान पा गए। मार्ग भूले मार्गी को मार्ग मिल गया। अन्तस् को कचोटते प्रश्न भूतकाल के स्मरण रह गये। सतोप झलक आया मुख पर।

माता पिता के परलोक प्रयाण के दिन से आज तक किसी ने रत्न-राज को, क्षणमात्र भी प्रसन्न नही देखा था। आज व्याख्यान की समाप्ति पर अनेको ने रत्नराज को प्रसन्न देखा। भाई भगिनी और भाभी रत्नराज को खुश देख कर, सन्तुष्ट हो गये। वे सब अकथ्य सुख से सुखी थे। भला क्या व्यक्त करते वे अपना वह संतोप? गूँगा कितना भी गुड खाये वह स्वाद नहीं बतला सकता। भोजनादि से निवृत्त हो कर, रत्नराज उपाश्रय में पहुँचे।

आचार्य श्री आहार पानी से निवृत्त हो कर आसनारूढ़ थे। लेखन में लीन थे। रत्नराज ने वन्दना की। आचार्य श्री के चरणों में नत हुए। बैठे। रत्नराज ने अपने मन में घुलते प्रश्न निवेदन किये। आचार्यश्री ने सब के समाधान दिये। रत्नराज ने प्रश्नों के समाधान पाये। अन्तर में अवाच्य और अकथ्य आनंद का सगीत झकृत हो उठा। चार घटिका बीत गई। आचार्य श्री अपनी क्रियाविधि में लगे। रत्नराज वन्दना करके घर आये। सध्या को भोजनादि के बाद घूमते-घूमते रत्नराज भरतपुर-नरेशों के उद्यान में गये। यह उद्यान नागरिको के लिये खुला था। सारे उद्यान में अनेक प्रकार के वृक्ष, लताओ की शोभा देखते ही बनती थी। फूलों की महक और फलो की सौरभ का आनद अजीब था। लतागृहों और कुंजों का निर्माण इस कुशलता से किया गया था कि आने वालों का मन खुश-खुश हो जाता। लताओं से बने एक मंडप तले पत्थर के विरामासन पर बैठे। विरामासन के निकट ही पानी का एक छोटा कुंड था। प्रवाहित पानी में चक्र पड़ रहा था। कुदरत की कलाबाजी ने बड़ी अपूर्व नक्काशी का सीन बना दिया था। रत्नराज का दिल विचारों में खोया था।

सुबह का व्याख्यान और दोपहर की वार्ता ने रत्नराज के अन्तस् में विचारों की चिनगारियाँ झगमगा रही थी फूलो – फलो की वनराजी के मनभावन रूपो को देखते वे विचारो मे गर्क हो चले। आह ! रागद्वेष कषाय और विषय–वासना के दलदल मे फँसा संसारी जीव इस ससार मे सबको अपना मानता है। प्रमाद के

वार्ता-विचार आज्ञा



कुछ देर इधर उधर की बाते चलती रहीं। माणिकचंद जी ने रत्नराज से कहा अब तुम कुछ दिन दूकान पर काम देखो। मैं कलकत्ता जा कर, माल की खरीदी कर आऊँ। काम मे महिना भर लग जायगा। बड़े भाई की बात सुन कर रत्नराज मनोमन विचार में पड गए। अरे मैंने तो आज क्या सोचा और यह क्या होने जारहा है ? तबही बहिन प्रेमा ने बात मे नया रंग घोल दिया। वह बोली— भाई साहब! रत्नराज दूकान सँभालेगा यह तो ठीक है पर मैने कल आपको कहा था उसका क्या होगा ? आपको सारे दिन बस व्यापार ही व्यापार दीखता है। रत्नराज क्या अब छोटा है ? कब फुर्सत मिलेगी आप को ? मेरे छोटी भाभी नही लाना ? माणिकचंद ने कहा सो तो सब निश्चय है। परसों सब तय करके फिर मैं कलकत्ता जाऊँगा। भाई और बहिन की बातो को रत्नराज स्तब्ध हो कर सुन रहे थे। अवसर उचित है, यह देख कर रत्नराज ने अपने निश्चय की घोषणा करने के

इरादे से बात का तंत्र अपने हाथ में लेते हुए कहा भाई ! आप का कहना यथार्थ है। पर प्रेमा का विचार ठीक नहीं है। इसे जो जँचे वह यह करे। परन्तु मुझे क्यों फँसाती है। मैंने तो अपना सब विचार कर लिया है। आप अब किसी प्रकार का झमेला न करे !

रत्नराज की विचित्र बात सुन कर माणिकचदजी बिस्तर पर सोये थे सो उठ बैठे। बोले रत्न ! क्या कहा तुमने मुझे तो समझ ही नही पडी। सारी वात को उड़ा दी थी उनने। पर रत्नराज सावधान थे। बोले—भाई ! परम दुर्लभ यह मानव जीवन मुझ को मिला है इसमें मेरे कोई प्राचीन भवो के प्रबलतम पुण्य के उदय का बल होगा। तब यह सब सुन्दर साधन सहकार और संयोग मिले है। अब मै इस अमूल्य अवसर का लाभ लेने मे प्रमाद क्यों करूँ ? जबसे गुरुमहाराज की वाणी सुनी है तब से मेरे मन में यह सब पदार्थ संयोग का खेल नजर आ रहे है। सो तुम मुझे अब किसी प्रपच में मत फँसाओ। मै तो आत्मसाधना की तमन्ना लिये बैठा हूँ और आप यह ब्याह की गाज क्यों फैलाते है। मैं समझ गया हूँ कि आप कलकत्ता क्यों जा रहे है ? भाभी से सब बाते सुनी है मैने। आप मेरे भाई है। आप का फर्ज है मुझ को सुखी करने का तो आप मेरा हित कीजिये।

बात सुनते ही माणिकचंद रो पड़े। वातावरण में गमगीनी छा गई। प्रेमा और उसकी भाभी स्तब्ध हो गई थी। बात उनके पल्ले नहीं पड़ी थी। जब माणिकचन्दजी ने सारी बात खोली

तो दोनों सन्न रह गई। रत्नराज ने अपना पासा उलटा जाता देखा तो वे मौन रह गये। रात गहरी हो चली थी, अतः सब उठ गये। रत्नराज को चिंता ने आ घेरा, परन्तु उन्होने उसे झिड़क दिया। निद्रा के अङ्क में सो गये। सुबह हुआ। अपने कार्यों से निपट कर गुरु वाणी का पान करने उपाश्रय गये। भोजन के बाद दूकान गये। प्रतिदिन का यह क्रम चलता रहा। रत्नराज मौन थे और अपनी बात समय पर रखने का मौका देख रहे थे। भाई समझ रहे थे रत्नराज ने बात छोड़ दी है। कुछ दिन जाने दो सब ठीक होगा। रत्नराज अपनी विधि में मस्त थे। वे रात को घर के एकान्त में कायोत्सर्ग करते, चितन और विचार मे अनुप्रेक्षा का आनन्द पाते।

एक दिन रात को माणिकचन्दजी की नीद खुल गई तो देखा कि पत्नी कमरे के द्वार से कुछ देख रही है। चुपके से वे उठे और पीछे से उन्होने जो देखा तो चकित हो गये। कड़ाके की सर्दी मे रत्नराज एक वस्त्र पहन कर कायोत्सर्ग कर रहे है। खड़े हैं आँगन में। साधना का यह आयोजन। आह! इस सर्दी मे यह अनुष्ठान, वाह रत्न वाह! पत्नी की आँखों से आँसू झर रहे थे। माणिकचन्दजी ने उसकी तन्द्रा भङ्ग की। दोनो चकित और स्तब्ध थे। पत्नी ने कहा देवर की यह साधना मै १५-२० दिन से देख रही हूँ। कल मैंने देवर से बाते की थी और समझाया भी था, पर देवर मेरा बडा दक्ष और निपुण है। मैने उसे समझाने के सैकड़ो प्रयत्न किये, पर देवर के समाधान के आगे

सब ठण्ड हैं। देवर ने मुझे आज साफ कह दिया कि भाईसाहब पूज्य है और उनका दिल मै दुखाना नहीं चाहता, लेकिन उनको एक दिन मुझे आज्ञा देना ही होगी ।

माणिकचन्दजी शून्य मन से सुन रहे थे। पत्नी ने उनसे कहा—देवर की आत्मा कोई उच्चात्मा है। तरुणाई के आँगन में खेलते जीवन में काम वासना की मस्ती का उन्माद कही झलकता भी नही है। तरुणाई के प्रांगण मे प्रौढसी गम्भीरता और मुनिराज के समान विरागता देवर की महानता का सकेत है। हम यदि इस हंस को बलात् बाँधेगे तो क्या फायदा होगा ?

पत्नी की बाते सुन रहे माणिकचन्दजी ने भी तर्क-वितर्क किये पर सब व्यर्थ रहे। कुछ दिन और बीते। एक दिन भोजन के बाद दोनों भाई विश्राम कर रहे थे। बड़े भाई ने रत्नराज को बुलाया और बोले—रत्न ! तुम चारित्र की बात कहते हो, पर भाई ! चारित्र कितना दुरूह है ? उस दिन व्याख्यान में गुरुदेव ने तुम्हारे पूछने पर कहा था कि चारित्र असिधारा व्रत है, हाथों से समुद्र तैरना है, बिना शस्त्रो के संग्राम जीतना है। यह सब कैसे सम्भव होगा तुझसे। रत्नराज ने उत्तर दिया— आपका कहना सत्य है, पर आप नही जानते कि मदमस्त हाथियों के झुण्ड को परास्त करने के लिये एक अकेला सिह शावक पर्याप्त नही होता ! चारित्र का मार्ग उस कायर को कठिन लगता है, जिसका मन विकार और वासना के अटपटे मार्ग मे भटक गया हो ।

रत्नराज का युक्तियुक्त उत्तर सुनकर स्तब्ध और चकित हो गये माणिकचन्द। उनका मन विचारों की उलझन मे उलझ गया। वे किसी जोरदार तर्क से रत्नराज को निरुत्तर करना चाहते थे, परन्तु तर्क दिमाग में जम नही रहा था।

तब बात को अपने हाथ में लेते हुए भाभी लीलावती बोली— देवर! तुम समझदार हो, तुम्हारे तर्क पुष्ट हैं और यह बात भी सत्य है कि आत्मकल्याण के लिये सयम का मार्ग उत्तम है। इस मार्ग में गये बिना आत्मकल्याण कहाँ सम्भव है ? किन्तु पूर्वकाल का संयम कहाँ और कहाँ आज का यह मायाचार ? इन यतियों के कपट और मायाचार मे शामिल होकर तुम किस तरह का आत्महित कर सकोगे ? इस मायाचार भरी यतिचर्या से आत्म कल्याण होगा ? यह तो मुझको नही जँचता। इससे तो हम गृहस्थ ही ठीक हैं। यहाँ रहकर भी बहुत आराधना की जासकती है।

रत्नराज बोले— भाभी ! आपका सोचना और विचारना ठीक हो सकता है। यतियों का वर्तन भी सामने है। सब ओर से सोच समझ कर मैंने यह तय किया है। मुझको अपने आत्महित के लिये सयम का यह दुरुह मार्ग लेना है। माया और शिथिलता का पोषण मुझे आज भी प्रिय नही है, तो फिर यह होगा भी कैसे ? गुरु महाराज के पास बैठ कर मैंने दशवैकालिक के चारों अध्ययनो को अर्थ और मतलब सहित समझा है। शेष अध्ययन का भी मतलब समझा है। अत: सोच समझ कर मैंने निर्धारण

किया है। समय आपको दिखलायगा कि आपका रत्न चारित्र की आभा से दमक रहा है। चारित्र को निर्मल बनाने के लिये जितने भी कष्ट सहना पड़ेंगे, हँसकर सहूँगा। त्याग मेरा रास्ता है। तुम्हे इसके लिये निश्चिन्त रहना चाहिये।

अब क्या कहती भाभी ! आखिर भाई, भाभी और बहिन ने आज्ञा प्रदान कर दी।

आज्ञा प्राप्त होते ही रत्नराज ने अपने मनोरथों को साकार करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। भरतपुर के नागरिकों को बडा आश्चर्य हुआ। भाई, बहिन और सब कुछ होते हुए रत्नराज यह मार्ग क्यों अपना रहा है ? मित्रों मे यह विवाद बन गया। मित्रों ने पूछ ही लिया रत्नराज को। रत्नराज ने उन सबके प्रश्नों का समाधान कर दिया।

इस तरह वार्ता–विचार और समाधान में समय भागता गया। चैत्र का महीना आ लगा। आचार्यवर्य श्रीप्रमोदसूरिजी म०सा० उदयपुर (मेवाड़) की ओर थे। श्रीकेशरियाजी की यात्रा गये यात्रियों से यह सवाद भरतपुर पहुँचा।



दीक्षा — अभ्यास



कुटुम्व और मित्रों के प्रयत्न रत्नराज को ससारी न वना सके। संसार के उन्माद से सर्वथा आलिप्त और अछूते रत्नराज के सामने उन सबके भगीरथ प्रयास सर्वथा निष्फल हो गये। एक दिन शुभ समय मे दोनो भाई, बहिन प्रेमा, माणिकचन्दजी की पत्नी, अन्य कुटुम्बीजन और नगर के कई नागरिकों का विशाल काफिला यात्रा के लिये रवाना हुआ। अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए वह यात्रियो का समूह उदयपुर पहुँचा। उदयपुर में उन दिनो आचार्यश्री प्रमोदसूरिजी म० बिराजते थे। यात्रियों ने आचार्यश्री के दर्शन-वन्दन किये। रत्नराज का अन्तस् तो खिल गया था। उसने गुरुदेव के चरणो मे सारी बात और अपना निश्चय निवेदन किया। माणिकचन्दजी आदि ने भी गुरुदेव को भरतपुर पधारने का आग्रह किया। पर अभी उधर आने का स्पर्शना योग नही है, गुरुदेव ने फरमाया। प्रतीक्षा

करना बड़ा कष्टप्रद है। अतः रत्नराज ने भाई आदि सब को समझा कर उदयपुर में ही दीक्षा का कार्य समापन करने के लिए राजी कर लिया। गुरुदेव ने भी स्वीकृति देदी। मेवाड की राजनगरी उदयपुर की जनता ने रत्नराज के संसार-त्याग उत्सव में भाग लेकर अपने को धन्य माना।

विक्रम सं. १९०४ के वैशाख सुदी ५ शुक्रवार का शुभ दिन आया। उदयपुर की जनता ने रत्नराज को दीक्षा का शानदार उत्सव देखा- मनाया। माणिकचदजी खुले दिल से धन खर्च रहे थे। शुभ समय में जुलूस रवाना हुआ। पीछोले की पाल के समीप के उपवन में आम के वृक्ष के नीचे जुलूस सभा में परिवर्तित हो गया। दोनों हाथो से याचकों को दान देता, प्रसन्नदिल रत्नराज गुरुमहाराज के समीप आया। पाट पर आचार्य श्री प्रमोदसूरिजी तथा उनके ज्येष्ठ गुरुभ्राता मुनिवर श्रीहेमविजयजी और अन्य शिष्य गण बैठे थे। निकट ही सिहासन पर चतुर्मुख प्रतिमाजी विराजमान थे। उत्साह उमग और हर्षभरे हृदय से रत्नराज क्रियाविधि के लिए उपस्थित हुए। मुनिराज श्री हेमविजयजी[1] ने क्रिया विधि प्रारभ करवाई। वस्त्र परिवर्तन



१ — आप श्रीविजयप्रमोदसूरिजी म के ज्येष्ठ गुरुभ्राता थे। सोजत (मारवाड) मे सं. १८२६ वैशाख सुदी ३ को गणधर चौपडा गोत्रीय सुन्दरलाल ओसवाल की पत्नी श्रीदेवी से आपका जन्म हुआ था। संसारी नाम श्रीलालजी था।

आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिजी के पास बीकानेर (राजस्थान) मे सवत् १८४२ मगसर सुदी २ को आपने दीक्षा ली। आप प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपकी वाक्शक्ति से उदयपुर के राणाजी अति प्रभावित थे। गच्छ का क्रियाशैथिल्य आपको अखरता रहा। आपने चारित्र की निर्दोष प्रतिपालनामय अपना जीवन बना दिया था। वि. सवत् १९०९ के कार्तिक सुदी पूर्णिमा को आपका स्वर्गवास हुआ। श्री' मुनि' रत्नविजयजी' के चारित्रिक जीवन पर आपके निश्छल और निर्दोष चारित्र पालन का अमिट प्रभाव रहा। जो आगे चलकर क्रियाशैथिल्यनिवारक बना।

कर रत्नराज संघ के सामने उपस्थित हुए तो सब के नयन सजल हो गए। क्षणों पहले राजकुमार से परिधानों वाला सुकुमार रत्नराज अब मात्र दो वस्त्र धारण करके खडा था। निर्धारित समय पर सावद्य त्याग का प्रत्याख्यान करवाया गुरुदेव ने। मनोरथ साकार हुए रत्नराज के। तृप्ति और सतोष हुआ उन्हें। माता केशर का दुलारा, और ऋषभदास का प्यारा रत्नराज आज वीर के शासन का रत्न बना। गुरुवर ने नामकरण किया मुनि श्री रत्नविजयजी !

माणिकचंदजी और भाभी एव अनुजा प्रेमा की आँखे आँसू टपका रही थी। रत्नविजयजी आकाक्षा की पूर्ति से सन्तुष्ट थे। वह यात्रियों का सुमुदाय कुछ दिन उदयपुर ठहरा, फिर भरतपुर की ओर प्रस्थान किया। अपने मे से रत्नराज की कमी उन्हे खलती थी, पर किया क्या जाता ?

श्री रत्न विजयजी ने चारित्र ग्रहण के दिन से ही अध्ययन मनन चितन तप जप और चारित्रशुद्धि की गवेषणा प्रारंभ करदी थी। प्रायः अप्रमत्त यह नूतन मुनि यतिमंडल मे विलक्षण और तेजस्वी रहा। निरतिचार चारित्र गवेषणा, मधुरभाषी मुनि सबके लिये बातो का विषय बन गया।

यतिगण और श्रावकगण में रत्न विजयजी की निश्छलवृत्ति ने संतोप लाया। शिष्य की इस ख्याति से आचार्य श्री प्रमोद सूरिजी म० प्रसन्न और संतुष्ट थे।

प्रखरबुद्धि शिष्य को विद्या की प्रत्येक शाखा में प्रवीण करना चाहते थे—आचार्य श्री । परन्तु बुढापा होने से वे विहार करने मे असमर्थ थे ।

जघाबल क्षीणप्राय. हो गया था । इधर मुनिप्रवरश्री हेमविजयजी का भी जंघाबल क्षीण हो चला था । अतएव उन दोनों ने रत्न को रत्न बनाने का उपक्रम करना निश्चय किया । खरतर-गच्छीय विद्वान् मुनि श्री सागरचन्द्रजी को बुलाया । श्री सागरचन्द्र जी प्रकाण्ड विद्वान् और सरलवृत्ति थे । आचार्य श्री के निमत्रण से वे आये । कुछ दिनों के समागम से सागरचन्द्रजी ने रत्न-विजयजी की प्रतिभा और मेधा में उत्कर्ष की आभा देखी । आचार्य श्री की भावना भी उन्हे प्रेरित कर रही थी । एक शुभ दिन श्री सागरचन्द्रजी ने रत्नविजयजी को साथ लेकर विहार किया ।

दोनो का गच्छ भिन्न, क्रिया भिन्न पर मानसिक अभेद गजब का सामंजस्य रख रहा था । विनय और विवेक ऐसे गुण हैं कि वे शत्रु को भी मित्र बना सकते है । जीवन सोना है तो विनय विवेक उसकी सौरभ है । जीवन यदि फूल है तो ये दोनों उसकी सुगध है । जिन फूलो में सौरभ नही वे फूल क्या कभी आदर पायेगे ? और जिस मुनि के व्यवहार में विनय विवेक नही वह कैसा साधु ?

श्री सागरचन्द्रजी म. के सानिध्य में रत्नविजयजी अध्ययन में लीन हो गये । इनके विनय विवेक पूर्ण व्यवहार से श्री सागरचन्द्र

जो प्रसन्न थे। तल्लेश्य, तच्चित्त और तनमन से किया कार्य अल्प समय में ही फलप्रद होता है। श्री सागरचन्द्रजी का दिशा-निर्देश और रत्नविजयजी का परिश्रम अल्पकाल में ही सफल हुआ। रत्नविजयजी व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, न्याय, दर्शन आदि में प्रवीण हुए। पाँच वर्षों का काल व्यतीत हो गया। अध्ययन समाप्ति पर श्रीसागरचन्द्रजी इन्हें लेकर आचार्यश्री के पास आये। अपना वाछित कार्य मित्र मुनिराज ने पूरा किया, यह बात आचार्यश्री के लिये हर्षोत्पादिका रही। आचार्यश्री ने उनका यथोचित सन्मान किया। कुछ महीनो साथ रहे। फिर जैसलमेर की ओर प्रस्थित हुए। मित्र को भावभरी विदा देते आचार्यप्रवर भावविभोर थे। जाते-जाते श्रीसागरचन्द्रजी ने रत्नविजयजी को सविधि आगमाध्ययन करवाने का निर्देश दिया।

उन दिनो तपागच्छ में श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी थे। ग्रामानुग्राम विहार करते वे उदयपुर पधारे। वहाँ वि. स १९०९ की अक्षय तृतीया के दिन श्रीहेमविजयजी म. ने श्रीरत्नविजयजी को बड़ी दीक्षा दी। आचार्यश्री प्रमोदसूरिजी और श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी ने उसी दिन इन्हे पण्डित पद दिया। श्रीपूज्यजी ने इन्हे अपने पास रखकर आगम पचागी का सविधि अध्ययन कराया और अध्ययन समाप्ति पर पन्यास पद दिया।

दीक्षा के वाद स. १९०४ का वर्षावास आकोला में तथा १९०५ का चातुर्मास इन्दौर में गुरुदेव के साथ किये। १९०६ से १९१०

तक के चातुर्मास खरतरगच्छीय श्रीसागरचन्द्रजी के साथ क्रमश: उज्जैन, मन्दसौर, उदयपुर, नागोर और जैसलमेर किये । सवत् १९११ का पाली. १९१२ का जोधपुर, १९१३ का किशनगढ में, ये तीन चातुर्मास तपागच्छीय श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी के साथ किये । इन चातुर्मासों में आपने सविधि आगम पचागी का तलस्पर्शी अध्ययन किया । श्रीपूज्यजी इनकी अध्ययन जिज्ञासा और लगन देख कर अतीव प्रसन्न थे । उन्होने इन्हे विद्या की अनेक दुरुह और अलभ्य आमनाएँ प्रदान की ।



अध्यापन चिन्तन निश्चय



श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरि अब वृद्ध हो चले थे । रुग्ण भी रहने लगे थे । अतः यतिगण को अध्यापन में वे जैसा चाहिये वैसा सहकार नही दे सकते थे । चिन्तित श्रीपूज्य ने श्री रत्नविजयजी को बुलाया ।[१] रत्नविजयजी को संदेश मिला । गुरुदेव की आज्ञा से वे श्रीपूज्य के पास शीघ्रता से विहार करके पहुँचे । श्रीपूज्यजी ने इन्हे कहा कि रत्न ! यह शरीर अब जराक्रात और रोगाक्रांत हो गया है । किस समय इसका साथ छूटेगा इसका अब



१— पुनश्चेऽथ तेनाय, ममाशुनिकटागतम् ।। ७६ ।।
मच्छिष्य धरणेन्द्राख्य–सूरे. शिक्षाप्रपाठनम् ।।
सर्वं कार्यं त्वयैवास्य, ह्य वमेवेत्यवक्तदा ।। ७७ ।।
स्वशिष्योऽपि तथाऽभाणी–दस्याऽदेशे प्रवर्तनम् ।।
पठनीयस्त्वयावश्य, तद्वचोऽङ्गी चकार सः ।। ७८ ।।

भरोसा नहीं है। अतः मेरे मन का भार तुम्हे देकर मैं भारमुक्त होना चाहता हूँ। धीरविजय को मैने पाट दिया है, पर वह अभी अध्ययनरत है। उसे तुम अध्ययन करवा कर दक्ष कर देना। हम तो अब बस चले समझो। तुम सब तरह से योग्य हो अतएव हमारा यह काम तुम्हे सौंप कर निश्चिन्त मन से अन्तिम आराधना करेंगे।

श्रीपूज्य के वचन सुनकर सजल नयन रत्नविजयजी ने कहा— पूज्यवर! आप कुछ भी चिन्ता न करे, आपके आदेश का मै अक्षरश: पालन करूँगा। इनके इन निश्छल वाक्य से संतुष्ट हुए यतिराज धीरविजयजी (धरणेन्द्रसूरिजी) ने व्यथित हो गुरुदेव से कहा– प्रभो! आपका विरह दुःसह होगा। मै आपकी आज्ञानुसार पन्यासजी से अध्ययन करूँगा।

इस तरह गच्छ की सब व्यवस्था करके श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी राधनपुर में दिवङ्गत हुए। अब गच्छ का भार बाल श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी पर आया। वे वृद्ध यतियों के सहकार से कार्य भार वहन करने लगे। गुरु का आदेश था अतः वे सौलह अन्य यतियों सहित श्रीरत्नविजयी के पास अध्ययन करने लगे। श्री रत्नविजयजी भी अपने वचनानुसार अप्रमत्तभाव से यतिगण को पढाने लगे। थोडे वर्षों में ही पठन–पाठन का सुफल सामने आया।[१] अनेक यतियों ने अपने शिष्यों को इनके पास अध्ययन-

१— तदनु तदादि षोडशयतिवरानन्यानपि धारणादिगुणयुक्तान् सर्वं पाठयित्वा स्वपरसमयदिज्ञानकरोच्च। —श्रीकल्पसूत्रार्थ प्रवोधिनी पृ. ४

के लिये भेजा। परिश्रमी मुनिवर ने भी सबको समान भाव से पढाया। सब मिलाकर पचास यतियो को आपने पढाया। सात वर्षों तक यह कार्य आपने अविराम गति से किया।

इस अध्यापनकाल में आपने सवत् १९१४ से १९२१ तक के चातुर्मास श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि सहित क्रमशः चित्तौड, सोजत, शभूगढ, बीकानेर, सादडी, भीलवाड़ा, रतलाम और अजमेर में किये। श्रीरत्नविजयजी के प्रभाव से बीकानेर और जोधपुर के नरेशो ने श्रीपूज्य का सन्मान किया। गुणज्ञ श्रीपूज्य ने अपने विद्यागुरु का भी योग्य सन्मान करके दफ्तरी पद दिया।[१]

यतिगण में दफ्तरी पद बड़ा सन्मान का पद था। यतिगण को विहार, चातुर्मास तथा अन्य सब तरह के आदेश देना तथा श्री पूज्य के समस्त कार्यभार का संचालन दफ्तरी के निर्देश से होता था। अनिच्छा से भी यह कार्य रत्नविजयजी ने वहन किया। उन्हे अपने स्वाध्याय, अनुप्रेक्षादि में व्यवधान प्रतीत होता था, परन्तु बलात् यह भार वहन करना पड़ा।

श्रीपूज्य युवक थे और अब पठित भी हो गये थे। समय का ह्रास प्रधान संयोग भी था। यतिगण में कुछेक यति आचार-पतित भी थे। अत. उनके संसर्ग से ये भी प्रमादी और आलसी



१—अथैतत्प्रत्युपचिकी: श्री पूज्योऽप्येनं पं. रत्नविजयं स्वदफ्तरं समर्प्य "दफ्तरी" इति विरुदप्रदानेन शोभयाञ्चकार ॥

श्री कल्प सूत्रार्थ प्रबोधिनी पृ. ५

हो चले। रत्नविजयजी इन्हें समझाते पर ये पुनः पुनः शिथिल आचारी हो गये। तब ही विहार क्रम से श्रीपूज्य का पधारना वि. सं. १९२० के चैत्र सुदी में विश्वविख्यात तीर्थ राणकपुर में हुआ। दफ्तरी श्रीरत्नविजयजी भी साथ थे। राणकपुर का जिनालय प्रकृति की सुषमा के मध्य शिल्पकला का परम उत्कृष्ट नमूना है। इस जिनालय के निर्माता धरणाशाह ने करोड़ों स्वर्ण-मुद्रा के व्यय से इसे बनवाया है। प्रथम देवलोक के नलिनी-गुल्म विमान के आकार का यह जिनालय है। श्रीऋषभदेवप्रभु के उपासक की भक्ति का - परम नमूना यह मन्दिर विशालता शिल्प और रचना के कौशल मे दुनिया में अद्भुत है। कही भी भक्त की भावना का ऐसा भक्तिपुष्प मिलना दुर्लभ और असंभव है। वहाँ की प्राकृतिक शोभा भी चित्ताकर्षक है। ध्यान चिन्तन के लिये निरापद स्थल देख कर श्रीरत्नविजयजी का मन प्रसन्नता से भर गया।

सैकड़ो भक्तों ने वहाँ श्रीसिद्धचक्राराधन प्रारंभ किया। तब श्री रत्नविजयजी ने अरावली पर्वत की उस उपत्यका में ध्यान और अनुप्रेक्षा का आनंद लेना प्रारभ किया।

जिनालय की पृष्ठभूमि में शान्त और रम्य तथा मनोहर वाताव-रण था। वासंती शोभा से प्रकृति की गोद भरी थी। फले फूले किसी आम के वृक्ष के तले एक विशाल पत्थर खड पड़ा था। उस पर ही रत्नविजयजी कभी दिन को तो कभी रात को अनुप्रेक्षा

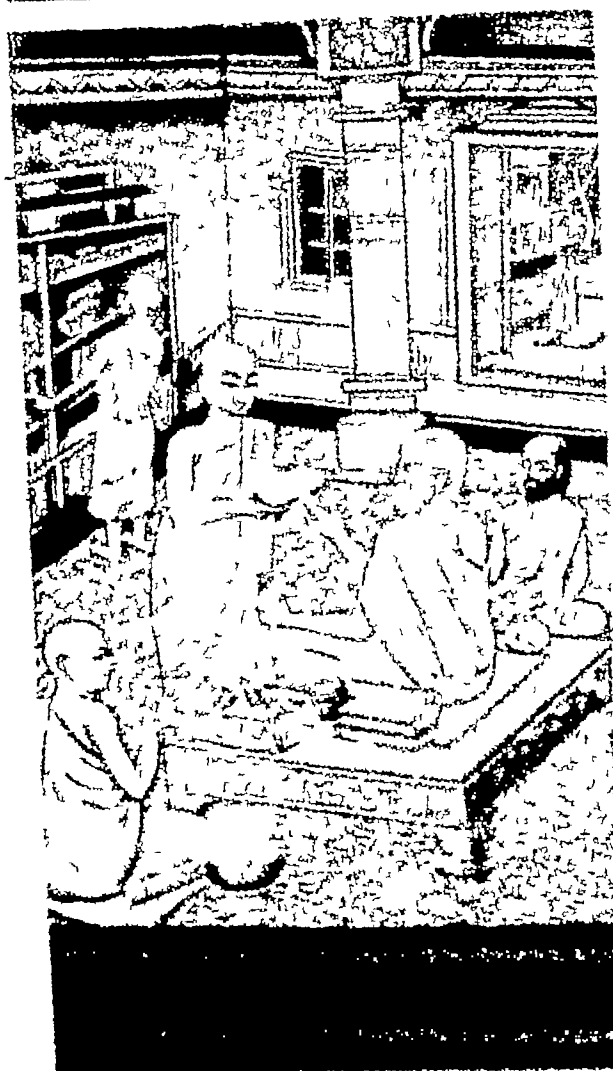
रस में निमज्जित होते । चैत्र सुदो १२ का सूर्य अस्त हुआ । आवश्यक विधि आदि से निवृत्त होकर रत्नविजयजी इस शिला-खण्ड पर आ बिराजे । निशामणि अपनी ज्योत्स्ना से प्रकृति पर प्रकाश छिडक रहा था । गगनमण्डल मे तारों की शोभा भी आह्लादक थी । नीरवता और शांति ने वातावरण में मोहकता पैदा कर दी थी । मुनिवर ध्यान में लीन थे । रात्रि का अन्तिम प्रहर आगया । ध्यान से मुक्त मुनिराज ने प्रकृति के आंगन का अवलोकन किया । शात प्रशान्त वातावरण बड़ा ही मनोरम लग रहा था । मुनिवर ने इस निरापद और नीरव में धीमे किन्तु मंजुल स्वर से श्रीऋषभदेव भगवान् की स्तुति की । भक्तामर का सस्वर पाठ हर भक्त की हृद्तन्त्री को झंकृत किये विना नही रहता । स्तुतिगान के बाद वे स्वाध्याय मे प्रवृत्त हुए । वास्तव में स्वाध्याय के समान कोई अन्य तप नही है । तीनों काल में अनुपमेय है यह ।[1]

स्वाध्याय का एक अङ्ग है अनुप्रेक्षा । अनुप्रेक्षा के सागर में तैरने वाला तैराक प्रज्ञा के प्रकाश और आत्म-प्रगति के मार्ग को प्राप्त होता है । मुनिवर रत्नविजयजी की अनुप्रेक्षा श्रीदशवैकालिक सूत्र पर केन्द्रित थी । यह सूत्र साध्वाचार की मर्यादा और व्यवहार का दर्शक है । प्रत्येक गुरु अपने शिष्यों को श्रमण जीवन मर्यादा का पालन करने का मार्ग इस सूत्र के



१—न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तवो कम्म ॥

—श्री बृहत्कल्पभाष्य ११६९,




आधार से दिखलाते है। साध्वाचार का स्वरूप, उसकी महत्ता गरिमा, प्रोज्ज्वलता, ग्राह्य–अग्राह्य का तथ्यपूर्ण विवरण, विधि निषेधों का व्यवहार, समिति गुप्ति का प्रचार, महाव्रतों के पालन में आने वाले सबल स्थानों के खतरों से सावधान होने का प्रघोष, असमाधी स्थलों से बचने का रास्ता, भाषा के गलत प्रयोग के कटुक परिणाम, परिषहों को पराजित करने के रास्ते, आहार, विहार, निहार वस्त्र वसति और औषध ग्रहण की मर्यादा, चलते, बैठत सोते तथा बोलते हुए की जाति अनवधानता के कटु परिणाम और उसका सांगोपाग वर्णन तथा महाव्रतों को यथा प्रतिज्ञ स्थिति में पालने से होने वाले लाभ का दर्शक है। यह श्री दशावैकालिक सूत्र।

सूत्र दर्शित आचार मर्यादा का पालन मुनि ऋजुदर्शन होता है। आश्रवों का त्याग, सवर का पालन, गुप्तियों का समाचरण, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह धीर मुनि को आत्म सुखदाता बनता है। कितने ही जीवों ने इस प्रकार को साधना के द्वारा कर्म-ध्वस करके सिद्धि सौपान पाई है। और कितनों ही ने सुगती के सुख पाये है।

मुनिवर श्रीरत्नविजयजी अनुप्रेक्षा के उत्तालतरग सागर में आज अबंध हो विहार कर रहे थे। आचार व्यवहार की पवित्रता पर से शिथिलता का आवरण खड-खड हो रहा था। मुनि जीवन की प्राण आचार मर्यादा पर अनुप्रेक्षा का प्रकाश झलोहल हो रहा था। वे विचार कर रहे थे, कहाँ सूत्र निर्दीष्ट साध्वाचार

मर्यादा और कहाँ आज का यह हमारा, उस से यह विपरित वर्तन ! श्रमणाचार की उज्ज्वल गरीमामय स्थिति पर विचरता मुनि कहाँ ? और कहाँ शिथिलाचार के दल-दल में फांफे मारता, आज का यति ? कौन समानता है, सूर्य और जुगनु की ? आह ! त्याग-विराग की, यह कैसी अवदशा ? यह विडम्बना की दशा किस-किस को पतन के पाताल में पहुँचावेगी ? यह आचार प्रमाद कितना अहित कर रहा यतिगण का ? आत्महित के लिये चला साधु सुखशीलता और शिथिलता के भयावह जंगल में उलझ गया है। आचार पतित साधु का उत्थान भी सभव कहाँ है ? वह तो शैथिल्य के अंक मे बैठा मार्गध्वसक हो गया है। वर्तन और वाणी में अन्तर हो गया है। माया, छल और दिखावा पसंद बन गया है साधु। सयम ही सयमी का धन है। यदि संयमी के पास संयमी रूप धन नही है तो वह कैसा सयमी है ? क्या है उसके पास ? किसके बल पर वह जुझेगा ? गृह त्याग के समय मैंने स्वेच्छा से प्रतीज्ञा की थी। "सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" मै सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता हूँ। मेरी प्रतिज्ञा आचार शैथिल्य की दल-दल मे फँसी है। जीवन की प्रोज्ज्वलता, पवित्रता और उद्दिप्ति के लिये यह संयमी जीवन ग्रहण किया गया है। आज का मुनि-यति अपनी आचार-श्रेष्ठता से कोसों दूर है। मुनि ऋजुदर्शन होता है। भ्रमरवृत्ति से जीवन यापन उसका आचार है। वह कभी किसी पर भार नही होता। आज का यति गण तो चाहना और लालसा के विहड़ में भटक गया है। जिन बावन अनाचारो से बचना संयमी का प्रधान लक्ष्य

है, बहिरंग आचारशुद्धि के लिये। जिस के बिना संयम में निखार आना संभव नही है। आज का यति उन्हीं की माया में मग्न हो रहा है। कर्म-मुक्ति के लिये प्रारंभ यह हमारा अभियान कर्मबध जनक हो रहा है। हमारी दशा उस पराजित सेना जैसी हो गई है जो संग्राम मे पराजित होकर शत्रु की मार से बचने के लिये जङ्गल में इतस्तः भटकी पर चलते-चलते वह पुनः शत्रु के घेरे मे फँस कर कष्ट झेलती है। ससार के दुःखों से भयभीत हुए हम उन दुखो से मुक्ति के लिये संयमी बने पर यहाँ भी अज्ञान-वश कर्मबन्ध के कार्यों में लग गये।

इस प्रकार ही यह जीवन चलता रहा तो आत्मकल्याण सम्भव होगा कैसे ? आह ! महाव्रतों का पालन आज भार बन गया। यह शाही ठाट-बाट, ये साज-सज्जा और दिखावे के प्रपंच क्या आत्मा को तारेगे ? उस दिन मैने किन मनोरथों के बाग में अपने को पाया था ! और क्या हो रहा है यह ? रत्न ! कहाँ है आत्महित यहाँ ? यह दफ्तरी पद तो जाल में फँसा गया रे आत्मन् ! तेरा हित यहाँ नही दिखता रे ! किसकी ममता में फँसा है तू ! आत्महित सर्वोपरि है। कौन त्राण है और कौन शरण है ? आत्महित के लिये चला रे पान्थ ! तू तो माया, ममता और यश-ख्याति के भ्रम में फँस गया। ज्ञान का सार विरति है। बढ आगे बढ़ ! इस शिथिलता ने महाप्रभु के इस शासन का कितना नुकसान किया है ? मुनिसङ्घ एकान्त हित-कामी होता है, पर आज जो यह आपाधापी मची है; इसमें आत्मसुख नही है।

आज श्रमण महाप्रभु का २३८९ वां जन्म दिन है। महाप्रभु के दिखलाए मार्ग का अनुसरण ही अप्रमाद और अबंध की स्थिति मे हमें पहुँचा सकने मे समर्थ है। हम स्वर्ग—नरक, लोक-परलोक दया, दान, पुण्य और पाप की बडी-बड़ी बाते करते हैं। बड़ी लच्छेदार भाषा मे प्रतिपादन करते नही थकते। क्या भाषा की ये छोले उछालने मात्र से आत्मा सुखी हो जायगी? प्रमाद है रे यह! रत्न! नही मिलेगे गये दिन। आत्मवचना के इस पथ से भागो। तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान और अनुप्रेक्षादि जिसके साथी हैं उसे क्या दुख और क्या सताप? मार्ग दुरुह है। सङ्गी साथी का अभाव है। चारो ओर आचारशिलो का शासन है। परिषह आवेगे और परेशानियाँ भी आयगी। पर सब आचार-विचार की पवित्रता के सामने क्या ताकत रखती है? करो प्रयत्न! सफलता मिलेगी। निष्फलता भी आवेगी, विरोध के ववण्डर भी उठेगे, पर ये सब बावडी के जल की लहरे है जो कुछ भी नही कर सकेगी। कथनी और करनी की एकरूपता जीवन में समरसता, सरलता और सरसता का कुंकुम् अवश्य बरसाती है।

आज महाप्रभु का २३८९ वाँ जन्म दिन है। उगता यह सूरज मेरे जीवन मे प्रकाश करने वाला है। हे प्रभो! तेरा बतलाया मार्ग शरण है। आज तेरे इस जन्म के दिन मैं निर्णय करता हूँ कि तेरे दिखलाये मार्ग का शरण ग्रहण करूँगा। इस शिथिलता के कलङ्क को धो दूँगा। साक्षी है यह त्रिभुवन दीपक जिनालय। पाँच वर्षों में ही इस मनोरथ को सफल करूँगा। मुझे

शक्ति दो मेरे नाथ ! इस जीवन दीप में ज्ञान, दर्शन व चारित्र का स्नेह भर कर प्रकाश बिखेर दूँ ।

विचारों को आचार के धरातल पर खेलता करूँ !

विचारों में डूबे श्रीरत्नविजयजी का ध्यान समापन हुआ । सूर्य ने धरती पर प्रकाश बिखेर दिया था । पाषाण खण्ड पर से उठे, पैरों में वेग था और हृदय में संतोष था । मन शान्ति के पर्वत की अधित्यका पर खेल रहा था । कुछ कर गुजरने की तमन्ना अन्तस् मे लहरा रही थी । नित्य क्रिया से निवृत्त हो जिनालय मे जिनराज प्रभु श्रीऋषभदेवजी के दर्शन, वन्दन और स्तुति से आज जो आनन्द आत्मा को मिला वह वर्णन-कथन से परे था । अनुभव और अनुभूति का विषय था ।

देववन्दन के अनन्तर अभिग्रह लिया । पाँच वर्षों का प्रतीक्षा काल रखा ।

जिन्दगी ऐसी बना जिन्दा रहे दिलशाद तू ।
जब न हो दुनिया में तो दुनिया को याद आए तू ।।



जिनालय में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्रीऋषभदेव स्वामी के दर्शन–वन्दन के बाद श्रीरत्नविजयजी मन्दिर से बाहर आये। आँगन मे सैकडो यात्रियो की भीड़ थी। सब आज जन्मकल्याणक पर्व पर तीर्थयात्रा करने आये थे। पन्यासजी को सहसा अपने मध्य पाकर भक्त प्रसन्नता से झूम उठे। जयकारों के घोष से गगन मुखर हो गया। तब ही यतिगण सहित श्रीपूज्य धरणेन्द्र सूरिजी जिनालय के समीप आये। पन्यासजी को उन्होने देखा सुखशाता पूछी और बोले पन्यासजी आज तो आपने ध्यान का बड़ा तगडा प्रयोग किया। यति कह रहे थे, सारी रात आप बैठे थे। प्रकृति ने सारा आनन्द आपको ही लूटा दिया। अलसाई आँखों मे तृप्ति नजर आरही थी। आपने तो आज खूब पाया — हमे भी हिस्सा दीजिये न। पुलकित रत्नविजयजी ने कहा— श्रीपूज्यजी ! साधू तो तो सदा देने मे ही आनन्द मानता है। पर यह प्रसाद पचना असम्भव है। श्रीपूज्यजी ने कहा तो आप पधारिये मैं देवदर्शन करके अभी आया। श्रीरत्नविजयजी उपाश्रय मे आये और तेले का प्रत्याख्यान किया।

किसी भी कार्य के निर्विघ्न समापन होने के लिये कार्य के कर्ता की तप भूत साधना बलवती होती है, यह परम्परा से स्वीकृत सत्य है। क्रियोद्धार जैसा महान् कार्य करने का भीष्म निश्चय किया तो उसके मूल मे तप नही होगा तो कार्य यथावत् सम्पन्न होना सम्भव नही। अतः पन्यासजी ने अट्ठम (तेले) का प्रत्याख्यान लिया। चैत्र की गरमी, पर्वत की तलहटी में रहना तथा

व्याख्यान और आने जाने वालों से वार्तालाप भी करना पड़ता, पर आत्मा की उमङ्ग का प्रश्न था। यतिगण आश्चर्य चकित थे। श्रीपूज्यजी को मालूम हुआ तो वे आये। उन्हें भ्रम होगया था कि किसी यति ने दफ्तरीजी को नाराज तो नहीं कर दिया। परन्तु दफ्तरीजी ने तो आत्मा के लिये आत्मा द्वारा कार्यारम्भ किया था। अत: श्रीपूज्यजी भी स्तब्ध और चकित थे। जब पन्यासजी ने कहा कि यह तप आत्मा की उमङ्ग का तप है, तब श्रीपूज्यजी प्रसन्न हो गये। तेला सानन्द समापन हुआ। तीनों रात वही पाषाणखण्ड पर आराधना का क्रम चालू रहा। रात को यतिगण छिपकर देखते निश्चल समाधि में लीन मुनिवर को और आश्चर्य करते। तेला समाप्त होने के बाद चौथे दिन देव दर्शन के बाद पन्यासजी जिनानय के सौपान उतर रहे थे कि कोई अबोध बालिका आई और बोली— "नमो आयरियाणं मालछाब तेला छपल होगया आप पालणा करो, बाछठ मीनों में करना" (महाराज साहब तेला सफल हो गया, आप पारणा करो। बांसट्ठ महिनों में करना)

श्रीरत्नविजयजी विस्फारित नयनो से बालिका को देखते रह गये। बालिका दौडती हुई मन्दिर में घुस गई। मुनिवर भी उस के पीछे मन्दिर में गये, परन्तु वहाँ पर कोई बालिका नहीं थी। सिर्फ घण्टानाद सुनाई दिया। 'नमो जिनाण' बोलते वे बाहर आये। दो यति बाहर खड़े थे, रत्नविजयजी ने उनसे पूछा कि आपके सामने से अभी एक बालिका मन्दिर में गई थी क्या ? वे बोले—नही, हम तो यहाँ कभी से खड़े हैं, कोई भी दर्शनार्थी

नही आया। उत्तर सुनकर वे मुस्कराते आगे बढ। पारणे का अभिग्रह दिन के मध्याह्न मे पूरा हुआ, तब पारणा किया। परमान्न (खीर) से पारणा ठामचौविहार किया।

अभिग्रह के दिन से ही श्रीरत्नविजयजी के वर्तन में परिवर्तन आगया। आचार–विचार, वाणी–वर्तन, कृत–अकृत आदि में करणीय और अकरणीय का विचार सतत रहने लगा। सुखशीलता और शिथिलता के पग काँपने लगे। आचार–ग्रन्थो का स्वाध्याय निरन्तर होने लगा। श्रीआचाराङ्ग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, ओघ और पीड निर्युक्तियाँ तथा बृहत्कल्पभाष्यादि के निरन्तर स्वाध्याय का चौमुखी हमला शिथिलता के गढ़ को ढाने लगा। व्याख्यानो, विचारो और वार्तालापो में आचार गवेषणा और आचार पालन का प्रतिपादन होने लगा। समिति–गुप्ति और महाव्रतो के पालन मे से अनवधानता एव अयत्ना भाग गई।

आचार पालन की यह गवेषण देख कर यतिपूज्य श्रीधरणेन्द्रसूरि एवं यतिगण में घबराहट बढ गई। कुछ यति तो अत्यधिक बैचेन हो गये। श्रावक वर्ग मे भी पन्यासजी की संयमशीलता की ख्याति होने लगी। शिथिल यतियो के मन प्रपचो की जाल बुनने लगे। श्रीपूज्यजी को बनावटी बातो से भुलाने का प्रयत्न करने लगे यतिगण। परन्तु श्रीपूज्यजी के सामने अपने गुरुदेव की आज्ञा थी —'रत्नविजयजी के कथनानुसार चलना' वे दुविधा मे पडे सुखशीलता मे पले श्रीपूज्य रत्नविजयजी के जैसी आचार

पवित्रता पालने में असमर्थ थे तो उनका विरोध करने का उनमें साहस नहीं था क्योंकि पन्यासजी के व्यवहार शास्त्रानुसारी थे, अतः उनका विरोध कैसे करते ? विद्या गुरु सन्मान प्रभाव एवं प्रख्याति आदि से श्रीपूज्य दब रहे थे।

रतलाम के भाविक भक्तों का अतीव आग्रह था। दफ्तरी रत्नविजयजी ने साथ में आने की अनिच्छा व्यक्त की परन्तु श्रीपूज्य का प्रबल आग्रह और रतलाम के उपासक वर्ग की तीव्र भावना को मानना ही पड़ा। वि. सं० १९२० का चातुर्मास श्रीपूज्यजी के साथ रतलाम में हुआ। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, तप और चिंतन में चातुर्मास यापन होरहा था। चातुर्मासके बाद श्रीपूज्य जी को समझाकर श्रीरत्नविजयजी ने आहोर की तरफ विहार किया। तीन माह तक गुरुदेव के पास रहे कि श्रीपूज्यजी के साथ के कुछ मायावी यतियों ने श्रीरत्नविजयजी पर दफ्तर से अमानत में खयानत का आरोप लगाया। इस बात से ये सर्वथा अनभिज्ञ थे। श्रीपूज्यजी चैत्र में जोधपुर आये, तब आहोर से लूणिया मुता तीकमचन्दजी पन्यासजी का पत्र (रुक्का) लेकर पहुँचे। पत्र पढ कर सतप्त हो गये श्रीपूज्यजी। कुछ यतियों का बेनामी काम था यह। क्रोध और दु:खाक्रान्त श्रीपूज्यजी ने रत्नविजयजी को सब बातों का तथ्य कहला भेजा परन्तु बात बैठी नही। तब जोधपुर में सारा यतिमण्डल इकट्ठा हुआ। इस प्रपच को फैलाने वालो को दण्डित किया। एक रुक्का तीकमचंद जी लुणिया मुता के साथ आहोर भेजा जो इस प्रकार है—

।। श्री ।।

सही—

"ॐ नत्वा । भ श्री श्री विजयधरणेन्द्र सूरीश्वरजी लि. पं रत्नविजयजी गणी ने कर दिवी फारगति तथा पुस्तक पाना दफ्तर प्रमुख सुप्यो हतो सो सर्व भरपायो आज दीन सुधी दाम एक रो दावो नही जोधपुर मध्ये स १९२१ रा चैत्र वदि६ पं देवसागर रा छे राजी खुशी सुं लिख दीनी छे आगा सुं इण वात मे दावो नही

साख प मोतीविजयनी छे ।।[१]

यद्यपि मुताजी के जाने से निरर्थक विवाद समाप्त हो गया, पर पन्यास जी का अन्तस् इस घटना से दु.खित और व्यथित हुआ। चातुर्मास के दिन समीप आ रहे थे। श्रीपूज्यजी के संदेश पर संदेश आये तथा अनुनय-विनय किये पर अब प श्रीरत्नविजयजी ने अपने गुरुदेव के निकट ही रह कर स्वाध्याय करने का निश्चय किया। चातुर्मास अजमेर मे किया। विद्यार्थी यतिगण को अभ्यास कराने में और सूत्रो के सटीक वॉचन में चातुर्मास समापन हुआ। चातुर्मास के समापन के अवसर पर श्री प्रमोद सूरिजी म का पत्र सदेश आनें से आहोर की ओर पधारे। पूरा शेषकाल आहोर मे ही रहे। उधर श्रीपूज्यजी के वहाँ प्रशासन बिगड गया। श्रीपूज्यजी को प्राय. सब व्यवस्थाएँ अपने हाथों करना पडती, फिर कुछ आचारहीन यतियों ने अपनी माया में



१—मूल पत्र आरक्षित कोष में सुरक्षित है।

श्रीपूज्यजी को इस तरह फँसा लिया था कि अन्य यतियों के मन ऊँचे हो गए। आखिर फिर पं. श्रीरत्नविजयजी को दफ्तरी पद पर कार्य करने को बुलाया। पं. श्री मोतीविजयजी वयोवृद्ध यति थे, उन्हें मध्यस्थ किया गया। पर श्री रत्नविजयजी का ये साफ-साफ उत्तर था। आत्महित के लिये चला मैं इस प्रपंच में क्यों फँसू ? कौन समझदार फटी गुदड़ी में पग डालेगा ? मैं तो साध्वाचार पालन के लिये आगे कदम हूँ ? अतः आप अब मेरी आशा न करें। आप मेरे विचारों से परिचित है। मैंने आप को वार्तालाप में सब कुछ बता दिया था। मोती-विजयजी निरुत्तर थे।

वि. सं. १९२२ का चातुर्मास आपने जालोर में किया। विद्यार्थी यतिगण को अध्ययन करवाना प्रारंभ था। अनेक स्थानों के यतिशिष्य तब आपके पास पढ़ते थे। जालोर के इस चातुर्मास मे पचास से अधिक यति साथ थे। ज्ञान ध्यान का सुव्यवस्थित कार्यक्रम बडे शालीन वातावरण में चल रहा था। पर्वाधिराज की समाप्ति पर श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी का बड़ा व्यथापूर्ण पत्र आया। उनकी इच्छा एक बार इन्हें अपने पास आकर मिलने की थी। आपने स्वीकार की।

चातुर्मास के बाद आहोर में श्री गोड़ी पार्श्वनाथ भगवान् के जिनालय का मुहूर्त था। आपने अपने गुरुदेव की आज्ञा से यह कार्य दक्षता से किया। वि. सं. १९२२ के मार्गशीर्ष सुद १३ गुरुवार१ को प्रात. धन लग्न में करवाया। इस जिनालय के प्रारंभ के शुभ क्षण से आहोर अपनी प्रगति के पथ पर है।

जिनालय का कार्य प्रारभ करवा कर, आप विद्यार्थी यति मंडल सहित श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के पास गये। दोनों का मिलन सुखद रहा। कुछ दिन रहने के बाद जब आपने मेवाड़ की ओर जाने का विचार प्रदर्शित किया तो उदास श्रीपूज्यजी ने बड़ी अनुनय की! तब आपने भावी का कोई अगम्य संकेत समझ कर साथ मे रहने की स्वीकृति दी।

एक दिन श्रीपूज्यजी और रत्नविजयजी वार्तालाप कर रहे थे। कमरे मे अन्य कोई नही था। तब यतियों के आचार व्यवहार पर दोनों ने खुलकर चर्चा विचारणा की श्रीपूज्यजी ने यतियों में कुछ आचार विषयक सुधारे किये। आचारहीन यतियो ने समझ लिया कि यह रत्नविजयजी की विचारणा है। सहमे सहमे उनने श्री पूज्यजी ने कहा वैसा मान लिया पर इस अखरते कांटे की चुभन से वे यति अतस् में कुछ अन्य ही योजना कर रहे थे। चातुर्मास समीप आया। अनेक स्थानों की विनतियाँ–प्रार्थनाएँ आयी। आचारशिथिल यतियों का विचार चातुर्मास मे रत्नविजयजी और श्रीपूज्यजी साथ न रहें यह था। पर भावी प्रबल था। घाणेराव के श्रावकों का आग्रह था अतः चातुर्मास की स्वीकृति उन्हे मिल गई। रत्नविजयजी भी साथ रहेगे यह भी तै हो गया। इस निर्णय से कुछ यति प्रसन्न थे तो कुछ यति अप्रसन्न।



१–यह लग्न पत्रिका आहोर की "श्री गोड़ी पार्श्वनाथ जैन पेढी" में आज भी सुरक्षित है। सन् १९६९ की फरवरी में मैंने देखी है। —लेखक

श्रीरत्नविजयजी उपेक्षाभाव से सब देख रहे थे, समझ रहे थे। पर वे इन सब से विमुख हो अनेप में लीन थे। श्रावकवर्ग में इनकी चारित्र गवेषणा की प्रशंसा हो रही थी। भक्तों की भक्ति का रंग देखकर छली यति ईर्ष्या की आग में झूलसे जा रहे थे। उनने आखिर अपनी मायावादिता का शिकंजा श्रीपूज्य पर कस ही दिया। उनके मन में यह आशंका बैठ गई कि मैंने रतनविजयजी को साथ रख कर ठीक नहीं किया। श्रीपूज्य मैं हूँ। पर आज तो मान सन्मान जो इन्हें मिल रहा है, वह क्या मेरे लिये हानीकर नही है ? वे अन्दर ही अन्दर शंकित और त्रस्त थे। पर अब किया क्या जावे ?

इधर श्रीरत्नविजयजी व्याख्यान अध्यापन अनुप्रेक्षादि में ऐसे गर्क थे कि वे इन सब छलनाओं से बेखबर थे। एक दिन पन्यास मोती विजयजी और रत्नविजयजी प्रातः ग्राम से बहुत दूर किसी वृक्ष तले बैठे थे। साथ के यति आना थे, मोती विजयजी ने सारे हाल संक्षेप में इन्हे कह दिये। मुश्करा दिये। बोले पंन्यासजी ! यतियों की इन सब चालों से मै अनभिज्ञ नही हू। पर सब व्यर्थ मे त्रस्त है। यह शाही ठाटबाट आत्म-पतन का द्वार है मुझे इनकी परवाह कहाँ है। आप जानते ही हैं कि मेरे अभिग्रह की पूर्ति का समय आलगा है। मुझे तो चारित्र पालन की लालसा है। क्यो श्रीपूज्यपद के इस प्रपंच में फँसू ? इतने में यति आगये और बात बदलदी गई।

पर्वाधिराज पर्यूषण आया। संघ में आराधना का समा बँध गया था। पन्यास श्रीरत्नविजयजी के प्रवचनों का रस श्रोताओं को

आत्मा के लिये कुछ करने को प्रेरित कर रहा था। त्याग, तपस्या और वीरवाणी श्रवण का निनाद ग्राम के घर-घर में गुंजित था। छली यतियों को रत्नविजयजी का यशवाद सहन नहीं था। मन मसोस कर बैठे इन यतियों को एक अवसर हाथ लग गया। भाद्रपद शुक्ला एकम को वीर जन्म वाँचन के बाद श्रीरत्नविजयजी के मन में अट्ठम करने का विचार आया। रात को प्रतिक्रमण के वाद अनुप्रेक्षा के रस की गंगा में निमज्जित हो रहे थे, । रत्न-विजयजी। रात्रि का अन्तिम काल व्यतीत हो रहा था। तब मोतीविजयजी और श्रीपूज्यजी ने योगनिद्रा से आपको जगाया। उस समय पूर्वाकाश मे उषारानी ने रँगोली भरदी। योगनिद्रा से जागे रत्नविजयजी की आँखो में कोई अगम्य अगोचर और असाधारण तेज के दर्शन किये यतिपूज्य ने। आवश्यकादि क्रियाओ से निवृत्त होकर देवदर्शन कर के आसनरूढ़ हुए मुनिराज का व्याख्यान का समय हो गया।

अन्तम् पुलकित और प्रफुल्लित था। रह-रह कर मन में विचार आ रहे थे। अभिग्रह को अब साकार करना चाहिये। श्रोता भी आज मुनिराज के शरीर में किसी तेज विलक्षण का दर्शन कर रहे थे। व्याख्यान प्रारंभ हुआ। आकाश में मेघ भी गरजे। मुनिराज का प्रवचन आज वीर जीवन पर था। श्री कल्पसूत्र की वाँचना जिस उमग, जोश, और उत्साह से की, उसे सुन कर भावुक भक्त झूम उठे। प्रवचन समाप्त हुआ। मुनिराज अपने आसन-स्थान की ओर वढ़ रहे थे, कि एक वालयति ने श्री पूज्यजी को वुलाने का कहा। पुस्तक यथास्थान रख श्री रत्न

विजयजी उधर चले ।

श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी तपागच्छ के श्रीपूज्य थे । उनकी आज्ञा में सेंकड़ों यति अनेक स्थानों पर थे । उनकी रहणी करणी किसी राजसी वैभव से कम नहीं थी । उनका आसन राजसी ठाट का दर्शक था । स्वर्ण की दंडिकाओं पर सलमे सितारे की कारीगरी वाले रुमाल के तले स्थापनाचार्य धरे थे । ओघा मुहपत्ति भी कुछ ऐसे रखे थे कि शायद वे शोभा की वस्तु हो । गहरे हरित रग के किमखाप का नक्काशीदार पृष्ठ-पट (पुठिया) और चदोवा लगा था । ढाकाई मलमल की दूध सी सफेद चादर पर कीमती दुशाला ओढ़े श्रीपूज्यजी सुखासन पर बैठे थे । अर्धश्वेत बालों को सँवारा गया था । चारों ओर सुगंध फैल रही थी । कुछ उपासक खड़े थे, कुछेक बैठे थे । गौरवर्ण वाला अरब अपनी अरबी वेशभूषा में सजा, इत्र मजूषा लिये समीप ही बैठा था । इत्रदानी से भाँत भाँत के और ज़ात जात के इत्र बता रहा था । इत्रों की महक से कमरा और उपाश्रय महक गया था, तब ही रत्न विजयजी ने कमरे में प्रवेश किया ।

इत्र की महक से कमरा महक रहा था । और मादकता से श्रीपूज्य भी बहक गये थे । इत्र की एक शीशी में से थोडा इत्र लेकर उनने इनके वस्त्रो पर छिडक दिया । रत्नविजयजी उनके इस अप्रत्याशित कृत्य से चमके । दूसरी शीशी लेकर इनकी ओर हाथ बढाये श्रीपूज्य बोले "लो यह इत्र परीक्षा करो कैसा है यह ? मुझे तो नामी लगा है और पसंद भी आया है ।

आश्चर्यनद में उतराते मुनिराज ने देखा श्रमणाचार का यह पतन। भूषा विभूषा वैभव और इन्द्रियों के पोषण में संयमी की शोभा नही है।

"विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बन्धइ चिक्कणं"

यह। बोले मुनिराज, यह इत्र आपको ही मुबारक रहे। महाराज! आप उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर आसीन है। यतियो के श्रीपूज्य है। गृहस्थों के लिए शोभा के उपादान (वस्तु) साधु के लिये दूषण है। साधु और साधुओं के नेता के लिये ये इत्रादि गर्दभ मूत्र से अधिक महत्व नहीं रखती। गृहस्थो के लिए ये अच्छी होंगी पर हमारे लिए तो मूत्र के समान हेय हैं। आप श्रीपूज्य है आप भी यदि इनका ने लग जायेगे तो फिर मर्यादा नष्ट ही होगी। गर्हित और निन्दित कर्त्तव्यो से विमुख होना ही श्रेयकर है१

१—श्री पुज्यः परम पवित्रे पर्युषणमहापर्वे बहूमूल्यकमॅलेयं (इत्रं) क्रीत्वाऽऽनीत पन्यासमदरत, जगौ,च दृश्यतामद परीक्ष्यताञ्च साध्वसाध्विति ? तदोवाच सविमर्श पंन्यास.—श्री पूज्य ? तथ्य जानीहि, यद्भवति गृहमेधिना शोभाकर तदवश्यंयतीनां तदधिपतीनाञ्च दूषणकरम्। अत एतद् गर्दभप्रस्रावकल्पमेव मन्तव्यम्। अर्थात् सर्वपि निषिद्ध वस्तु यतिनामधारिभिरशेषैस्तन्मूत्रादप्यधिकमशुद्ध मन्तव्यमेव। भवान् गच्छाधिपतिर्भूत्वा यदीदृशममेध्य सेवितुमिच्छति तत्तु न वरम्। यतो हीदृग्गर्हिताऽऽचरणेन गच्छमर्यादा सर्वथोच्छिन्नतामेव व्रजति।

इति पंन्यासोक्तिमाकर्ण्य प्रथमोद्भूतप्रभूतरोषपूर्णमनाः सन्नेव स्फोटोपरि स्फोटेनेव पुनरीदृशानन्भेदिवचमा प्रवृद्ध कोपानलज्वालाजटालः श्रीपूज्यस्तर्ह्येवमभाष्यत्-पंन्यासजी यथोपदिशति मा, शक्तिश्चेत्त्वयमपि श्रीपूज्यतामधिगम्य तथाऽऽचरेस्तर्ह्येव सत्यं विद्यामहमपि, अन्यथा वचनमात्रेण तथोपदेष्टारस्तु फाल्गुने बालाका इव पदे पदे सन्त्येव, तं कि सिध्येत् ? ईदृक्षा. परोपदेशनमात्रसारास्तु 'गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षति वर्षासु निस्वनो मेघ। —श्री कल्पसूत्रार्थ प्रवोधिनी-गत जीवनम् पृ ५-६,

(अ) कीदृग्गयं कियन्मूल्य, हठात्पृष्टा पुनः पुन.॥
तदोवाच शिरो धुन्वन्, नैव पर्वणि युज्यते॥ ८६॥ ग. गु. म पृ २३
वन्निष्ठा यदि ते शक्ति र्भवेत् पूज्यो भवानपि॥ गु रा म. पृ. २४

T C SHAR

भक्तों और यतियों के समक्ष अपने को लताड़ सुन कर यति पूज्य तड़प गये। मान सम्मान और पद गौरव गरिमा से वे बहक गये।

पहले ही छली यतियों ने उन्हें भरमा रखा था। फिर अभी दो वर्षों से वे निरंकुश हो गये थे। नशे की लत भी पड़ गई थी। इस समय फी नशे में थे। अतः पराधीन थे। क्रोध से उबल पड़े। रत्नविजयजी के वचन, शूल पीड़ा से चुभ गये। आरक्त आँखों से धमाका होने का आभास हो रहा था। बाहर प्रकृति भी तांडव मचा रही थी। मेघ घुमड़ आए थे। गर्जन करके वातावरण में अनोखापन ला दिया था, काली कजरारी घटाएँ उमड रही थी। तो उपाश्रय में भी श्रीपूज्य रोषारुण हो बरस पड़े, पन्यासजी! हमने अपने गुरुदेव के कथनानुसार आप का सम्मान किया। और आप आज उपदेश दे रहे हैं। पर कथनी और करणी में महद् अन्तर है, महाराज! परोपदेश में कुशल तो अनेकों जन मिलते है। पर वे व्यर्थ बकवास करते है। आप भी बड़ा उचित अनुचित प्रतिपादन करते है, तो जरा पालन करके दिखा दो। महाराज! यदि सामर्थ्य है तो श्रीपूज्य बन कर जरा दिखा दो हम समझे कि आप की कथनी करणी में अन्तर नही है। हम है जो निभा रहें है। अन्य हो तो मालूम होता। शरद् के बादलों ने गरजना जाना है। बरसना तो बादलो का काम है। श्रीपूज्यपद तो स्वप्न है स्वप्न! पर कही अन्यत्र दो चार माह भी दफ्तरी पद पर रह जाओ तो हम जाने?

गम्भीर और शांत प्रकृति पन्यास श्री रत्नविजयजी ने विचार किया कि वास्तव में सत्ता के नशे में इन्सान अन्धा बन जाता है। वह उन्मार्ग पर चलने लगता है। अगर उसे कोई टोक दे तो क्रोधाभिभूत हो कलह कङ्काश पर उतारू हो जाता है। यही बात यहाँ हो रही है। इस दोप के शमन का उपाय करना ही पडेगा। अन्यथा यह रोग सङ्घ के लिये घातक परिणाम पैदा कर सकेगा। अत: इन्हे पहले योग्य शिक्षा[1] देकर बादमें अपना कार्य करूँ। जब इन्हे मेरे हितवचन ग्राह्य नही है, तो मेरा यहाँ रहना फिर कैसे सम्भव होगा? इस प्रकार विचार करके रत्न-विजयजी बोले—

"श्रीमान्! देखते जाइये हवा किधर बहती है।" मेरा तो विचार शुद्ध साध्वाचार प्रचार के लिये क्रियोद्धार का है और इस उन्माद का उपचार भी अत्यावश्यक है। रोग यदि बढ गया तो अङ्ग भङ्ग का मौका भी आजाता है। अत· पहले यह शल्य उपचार माँगता है, सो करना ही पडेगा। श्रीमान्! औपध के कड़वे घूँट पीने को तैयार रहें! मैं औषध शीघ्र भेजूँगा। इस प्रकार कह कर पन्यासजी अपने स्थान पर आये। वृद्ध एवं अनुभवी यतियों को दोनोके इस सघर्ष में श्रीपूज्यजी का अनिष्ट



१—अथ गम्भीर प्रकृतिक पन्यास रत्न विजयस्तदाकर्ण्य मनसि दध्यौ-यदत्र संसारे प्रायेण सकला अपि जना अधिकारमदेनऽन्धतामापन्ना उत्पथेनेव चलन्त सर्वं तृणाय मन्यमाना-निजमर्यादामपि लुम्पन्त्येव। अत एते योग्य शिक्षां प्रदाय मयावश्यं सुपथि समानेतव्या:।

—श्रीकल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी गत जीवनम् पृ. ६

दीखा। सभी ने रत्नविजयजी को समझाने के अनेक प्रयास किये परन्तु वे तो दिन में ही अनेक यतियों सहित प्रस्थित हुए। कई श्रावकों और यतियों ने मार्ग रोका पर हँसते–मुस्कराते यतिश्रेष्ठ रत्नविजयजी मौन थे। कदम आगे बढ़ते जारहे थे। नाडोल में शेष वर्षावास का समय यापन करके आहोर आये।

आहोर में गुरुदेव को सब घटना निवेदन की। अनेक प्रसिद्ध विद्वान् यतियों के खेपिये भी आये। सबने बीमारी का योग्य उपचार करने की बाते पत्रों में लिखी थी। कार्य भगीरथ था। बल स्वयं का था। अतः अट्ठम तप करके नमस्कार महामंत्र की मौन होकर एकान्त में आराधना की। आराधना से मन प्रसन्न था। पारणे के बाद गुरुदेव ने इन्हे बुला कर कहा— रत्न! आचारविमुख यतियों के आतङ्क से श्रीसङ्घ का प्रत्येक अङ्ग आतङ्कित है। यदि यही हालात रहे तो भविष्य बड़ा भयावह होगा। तुमने क्रियोद्धार का निश्चय किया है सो योग्य है व मुझे प्रसन्नता भी है। परन्तु अभी कुछ समय ठहरो। पहले इन श्रीपूज्यो और यतियोके त्राससे त्रस्त जनता को मार्ग दिखाओ। क्रियोद्धार फिर करो। गुरुदेव की बात सुनकर विचार विमर्श करके श्रीरत्नविजयजी ने कार्य प्रणाली की रूपरेखा निश्चित की। तब मोतीविजयजी, महेन्द्रविजयजी, अमररुचिजी, सिद्धी-कुशलजी और देवसागरजी आदि प्रमुख यतियों का गुप्त संकेत आया। संकेत का तात्पर्य था, आप अपने कार्य में आगे बढ़ें पर ध्यान रखे! कुछ यतियों ने आपको चुप करने का काम हाथ में लिया है और वे माघ महिने में कुछ करेंगे। बात से

सबको घबराहट हो गई लेकिन पन्यासजी बोले मुझे सब ध्यान है। शरद् के बादलों का गर्जन है—गरजने दो। वापस उत्तर दे दिया गया।

संकेत के समय मांत्रिक–मारण प्रयोग भी हुए लेकिन सब व्यर्थ गये।

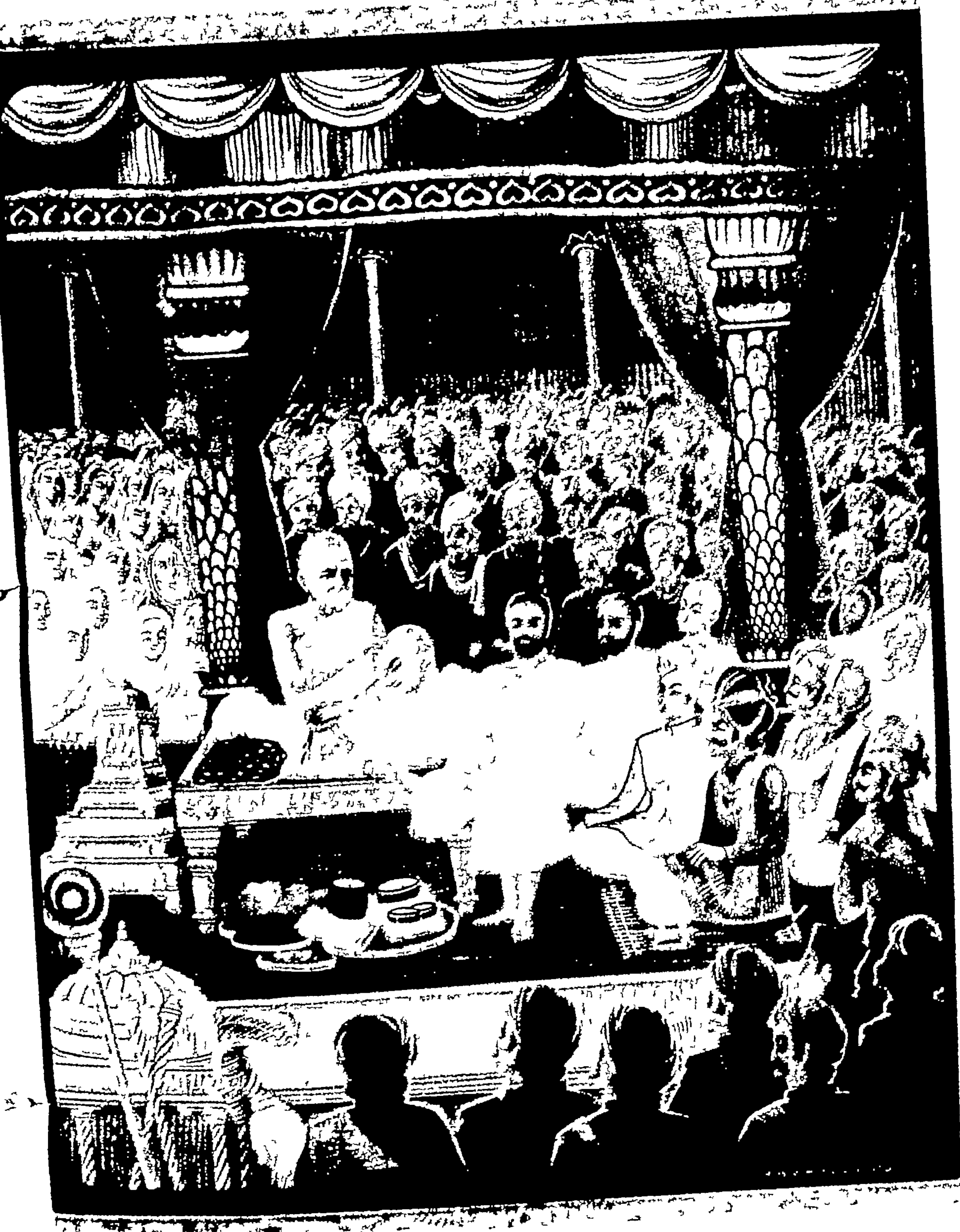
विक्रम सं. १९२४ के वैशाख शुक्ला ५ को गुरुदेव श्रीमद्विजय प्रमोदसूरिजी म० ने निजपरम्परागत सूरिमत्रादि प्रदान कर के श्रीसङ्घ आहोर द्वारा किये गये महोत्सव सहित श्रीरत्नविजयजी को आचार्य–श्रीपूज्य पद प्रदान किया। नाम श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी रखा। आहोर के ठाकुर श्रीयशवन्तसिहजी ने श्रीपूज्यजी को चामर, छत्र, पालखी, स्वर्णदण्ड, सूर्यमुखी, चद्र-मुखी और दुशालादि भेट किये[1]।

अनेक नगरो से चातुर्मास की विनतियाँ आईं। सबको सतोषप्रद उत्तर दिये। पद उत्सव मे विघ्न डालने के अनेक यत्न छली यतियों ने किये किन्तु सब असफल हुए।



१—श्रीगुरुरपि · योग्यसमय विमृश्य श्रीसङ्घाऽऽरब्धमहामहेन वैक्रमे १९२४ वैशाख-सितपञ्चमी बुधवासरे पन्यासरत्नविजयाय निजपरम्पराऽऽगत सूरिमंत्र प्रदाय 'श्रीविजयराजेन्द्रसूरि' इत्याख्यां दत्वा श्रीपूज्यपद दत्तवान्। तत्रैव ठक्कुर श्रीयशवन्तसिंहो श्रीपूज्यायाऽस्मै स्वर्णयष्टि–चामर–च्छत्रयाप्यमान–सूर्यमुखी–चन्द्रमुखी–महावस्त्रप्रमुखमार्पियच्च।

— श्रीकल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी गत जीवनम् पृ. ६



वैशाख शुक्ला १० को प्रातः श्रीपूज्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी म० ने आहोर से विहार किया। ग्राम–नगरों में वीर सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए राणकपुरजी पधारे। राणकपुर में ५ दिन की स्थिरता करके आप मेवाड़ मे शम्भूगढ़ पधारे। वहाँ के यति ने आपके पदार्पण पर बड़ा भारी उत्सव करवाया। राणाजी ने अपने कामेति को भेज कर श्रीपूज्यजी का सन्मान किया। वहाँ से विहार करते–करते आप नीमच (मालवा) पधारे। मालवे के अनेक ग्राम–नगरों से चातुर्मास स्थिरता के लिये प्रार्थनाएँ आई लेकिन क्षेत्र स्पर्शना योग और अत्याग्रह भरा अनुनय था जावरा श्रीसङ्घ का, अतः उसे स्वीकृति मिली।

शुभ दिन यतियों सहित श्रीपूज्यजी जावरा पधारे। जावरा के भावुकों ने भावभरा स्वागत किया। नित्य व्याख्यान में पंचमांग श्रीभगवती सूत्र की वाँचना होती। श्रोता वीर वाणी का पान करते थे। तप, त्याग और आराधना का अपूर्व आनन्द आया। श्रीपूज्यजी की निष्पृहता और विद्वता ने सारे मालवे में भक्ति का एक अजीब और जबरदस्त अनुराग पैदा कर दिया। निरंकुश और स्वच्छदाचारी यतियों के पैर उखड गये। साध्वाचार का प्रत्यक्ष पालन देखकर उपासक वर्ग मे प्रसन्नता छा गई थी।

पर्वाधिराज पर्यूषण के दिन थे। आराधनाओ का आनन्द छा रहा था। एक दिन व्याख्यान में जावरा के नवाब गोस्तमोहम्मद खॉ व्याख्यान सुनने आए। दीवान हजरत नूरखान भी साथ में थे। जावरा नवाब आपकी प्रतिपादक शैली से प्रभावित हुए।

दूसरे दिन भी वे स्वत: व्याख्यान में आये। व्याख्यान श्री वीर जीवन पर चल रहे थे। तब नवाब ने पूछा—महाराज ! यदि हम आचार–विचार से शुद्ध हों अथवा जैन धर्म स्वीकार करे, तो क्या आप हमारे हाथ से आहार ग्रहण करेंगे ?

नवाब के प्रश्न का उत्तर देते हुए आपने कहा— जैन साधु की आहार–ग्रहण मर्यादा दाता के आचार–विचार की शुद्धाशुद्धि पर आधारित है। व्यक्ति जन्म से ऊँचा या नीचा नही होता, वह अपने कर्मों–कार्यों से ऊँचा या नीचा होता है। उच्चकुल में जन्म लेने वाला भी यदि हीनाचारी है तो उसके घर का आहार त्याज्य है और नीच कुल मे जन्मा हो और आचार, विचार एव व्यवहार से पवित्र है तो उसके हाथो से आहार लेने में दोषापत्ति नही है।

समुचित उत्तर सुनकर जावरा नवाब प्रसन्न हो गये। तब ही पास मे बैठे दीवान हजरत नूर खाँ ने भी एक प्रश्न किया। वे बोले— महाराज ! आपके यहाँ व्याख्यान मे स्त्रियाँ आती है। इनके सौंदर्य और श्रृङ्गार आदि देख कर आपके मन मे चंचलता नही आती ?

प्रश्न सुनकर श्रीपूज्यजी मुस्करा दिए। वे बोले – दीवानजी ! यह तो विचारों पर आधारित है। एक सच्चा मुसलमान शुकर का मांस देखकर भी खाने की लालसा नही करता, यद्यपि वह मांसभोजी है। लेकिन वर्ज्य है उसके लिये वह मांस। इसी प्रकार हमारे लिये रमणी मात्र त्याज्य है—अस्पृश्य है। किसी

पदार्थ या वस्तु पर अरुचि जिसे हो जाती है, उसे फिर उससे रुचि या स्नेह कैसे होगा ? कामवासना और साध्वाचार के मेल है ही नहीं। आती हुई रमणियों में हम मातृभाव और भगिनी भाव की दृष्टि रखते है, अतः विकार को स्थान कहाँ ?
नवाब और दीवान दोनों श्रीपूज्यजी के समिचीन उत्तर सुन कर संतुष्ट हुए।

मालवे में होती धर्म जागृति और नये श्रीपूज्यजी के आदर, सन्मान और प्रख्याति का सवाद सुनकर मारवाड़ स्थित श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरीश्वरजी के अन्तस् में सन्ताप हुआ। अमर्ष में कहे गये असंबद्ध वचनों ने जो परिणाम दिखाया, उससे यतिपूज्य अत्यन्त व्यग्र रहने लगे। समस्त कार्यभार स्वयं पर आ पड़ा था। यतियों को सँभालना और मान्यता को बनाये रखना एक विकट समस्या थी ! जब उपासक वर्ग मे शुद्ध साध्वाचार प्रचार मान्यता की हवाएँ जोरों से चलने लगी थी।

चातुर्मास समाप्ति के बाद कुछ यतियों को श्रीपूज्यजी ने मालवा भेजा। उन्होने छोटे-बड़े ग्राम, कस्बों और नगरो में ठहर कर जो वातावरण देखा-परखा तो वे समझ गए कि विवाद का परिणाम विपरीत आगया। यदि विवाद नही होता तो ये अपना चारित्र पालते ही, लेकिन यह परिवर्तन का आन्दोलन तो नही चलता ! शीघ्र ही वे यति श्रीराजेन्द्रसूरिजी के निकट जाने को सवारियो से रवाना हुए। सारी स्थिति का जायजा लेकर, श्री पूज्यजी ने अपने खास-खास यतियों को विचार-विमर्श के लिये

बुलाया। विचार विमर्श चले। सबनें समय की माँग को देखते हुए, सुधार की ओर ही बढने का संकेत दिया। पन्यास मोतीविजयजी और पंन्यास देवसागरजी ने श्रीपूज्यजी और छल प्रपंच में लीन यतियों को साफ साफ सुनाया। श्रीपूज्यजी को अपनें उतावले स्वभाव पर बडी खीज आई पर अब क्या होता? समय पर सावधान नही हुए अब पश्चात्ताप ही शेष था। तीर और वचन निकलनें के बाद किसी के हाथ में नही आते।

इधर तो गच्छ के बडे बड़े यति विचार रत थे कि क्या किया जाय। और उधर कुछेक उग्र स्वभावी यति जावरा पहुँचे। उननें वहाँ के श्रावको को तग किया डराया, धमकाया और मत्रों के डर भी दिखलाये। पर निष्फल हो अधेरी रात मे उन्हे वहाँ से भागना पड़ा। खाचरोद रतलाम मन्दसौर जहाँ भी गये, मात्र विफलता ही विफलता हाथ आई। आखिर मात खाकर मारवाड की ओर पलायन में हो उन्हे अपना भला नजर आया! यति श्रीपूज्यजी के समीप गये। सारी बाते जान कर अग्रेसर यतियों के मन में रोष छा गया। उन सबनें एकत्र हो कर, श्रीपूज्यजी को स्पष्ट कह दिया, महाराज! ये सारे प्रपच क्यों किये जाते हैं। आखिर उनके कहनें मे असबद्ध क्या है? यतियों के आचार विचार और व्यवहार मे स्वच्छन्दता और उद्दडता शोभा नही देती। यदि आते चातुर्मास के पहले ही समाधान नही हो जाता तो हम सब नये श्रीपूज्यजी की ओर जायेगे। आत्मकल्याण के लिए यह वेश और व्यवहार है, पर यहाँ तो इन्द्रिय पोषण की प्रवृत्तियां चल रही है। आत्मार्थी मुनि-यति सताये जा रहे



हैं। अतः विचार करके पग उठावें। श्रीराजेन्द्रसूरिजी के सुझावों के अनुसार वर्तन में हमें तो यति मंडल की भलाई ही दिख रही है। श्रीपूज्यजी के सामने अब बड़ी विकट समस्या थी। खुद के ही बोल खुद पर चोट कर रहे थे। अन्त में कई दिनों के विचार विमर्श के बाद श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी ने पन्यास मोतीविजयजी देवसागरजी आदि नौ मुनिवरों को यह सारा विवाद समाप्त करने के लिये नियुक्त किया।

उन यतियों ने पंन्यास १ मोती विजयजी और मुनि सिद्धि कुशल जी २ को जावरा भेजा। जावरा का संघ तो रोषारुण

१—पन्यास मोती विजयजी, वि. स १९५५ के बाद तक जीवित थे। स. १९५५ में आहोर में गुरुदेव प्रभु श्री राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. ने ९०० मूर्तियो की अ जन शालाका की, तब ये उस उत्सव में आये थे। तब विवाद की सारी घटना का विवरण गुरुदेव के शिष्यो को सुनाया था। उस समय गुरुदेव श्री यतीन्द्र सूरिजी म. भी इस वार्ता के श्रोता थे। वि. सं. २००६ के फाल्गुन में गुरुदेव भेंसवाड़ा में विराजमान थे। तब पुराने सस्मरण सुनाते हुए, उन श्री ने हमको यह घटना विवरण सुनाया था। —देवेन्द्रविजय

२—यति सिद्धि कुशल–मोती विजयौ स्वहस्तलिखित पत्र प्रदाय मुखेन च सम्बोध्य जावरा संघ पार्श्वे प्रैषीद्धरणेन्द्र सूरिः। तत्र च तत्पत्रं वाचयित्वा कियन्तोऽग्रेसर–रास्ताभ्या श्री सूरे. पार्श्वमित्वा, विधाय च वन्दनां समासत। तदोवाच सिद्ध कुशल –स्वामिन् ? महीयानसि, गच्छोन्नत्यवनत्योश्चिन्तापि त्वय्येव गुणा न्यासि, पितेव पुत्रस्य शिष्यापराधं सहित्वा शिक्षयित्वा च सद्गुरुरेन सत्पथं नाऽऽनयेत किम् ? आनयेदेव अतस्त्वादृशां स्वमहिम्नाऽपरां सृष्टिं निर्माय तस्य हानिकरण–मयुक्तमेवाऽस्ति। स्वामिन् ? कोऽस्मि कीदृशीश्च योग्यतामापनोऽस्मीत्यपि विचार्यताम्। इति। सूरीन्द्र समाधत्त–महाभाग ? नाऽहं तेन सार्धं किमपि विरोधं चिकिर्षामि, परन्तु स ते श्री पूज्यो गच्छ मर्यादामत्येति, अतोऽहमेवमकरवम् यद्यसौ सत्पथेन चलेत्, पालयेच्च स्वगच्छमर्यादा तर्हि सर्वमेतदुपाधिभूतमुज्झित्वा स्वश्रेयसे क्रियामेवाद्धर्त्तास्मि, अत्र मा संशयीथा'। अतस्त्वं याहि, इमां नवसमाचारीं तस्मै दर्शय, तत्सम्मतिञ्च कारयित्वा पुनस्तामत्रानय।

श्री कल्प सूत्रार्थ प्रबोधिनी गत जीवनम् पृ. ७,

था। दोनो यतियों ने जब छन्नी यतियों के कार्यों का हाल जाना तो वे बड़े दुखी हुवे। बड़ी मुश्किल से सघ को मनाया। वहाँ के अग्रेसरो को साथ लेकर दोनो यति रतलाम पहुचे। श्रीपूज्य श्री राजेन्द्रसूरिजी उस समय रतलाम विराजते थे। बडी अनुनय विनय करके उन दोनो ने इन्हे समस्त बाते भूल कर पुन. लौटने को समझाया। पर आपका उत्तर साफ था कि मैं अब इन प्रपंचों में रह कर आत्मा का पतन करना नहीं चाहता। आप दोनो नही जानते कि मुझे तो क्रियोद्धार करना है। अतः दफ्तरी पद या यह श्री पूज्यपद भी अनावश्यक है। यदि श्रीपूज्यजी हमारे सुझाए सुझाव मान लेते है और उनके अनुसार यतियों मे सुधार हो जाते है, तो यह विवाद समाप्त ही है। विवादो मे कषायो के पोषण से मैं अपनी आत्मा का अति क्यों करूँ ? सुधारो की कलमो का पत्र उनके पास है ही। नया पत्र फिर लिख देता हूँ। इस पर पालन प्रारभ करवा दो।

दोनो यति आप की बात से प्रसन्न हुए। वे शीघ्रता से पुन. श्रीपूज्यजी के समीप गये। कलमनामे की शर्तों को देख कर कुछेक यति बौखला गये पर जब मोतीविजयजी ने स्थिति की गभीरता बतलाई तो सब मौन हो गये। आखिर श्रीपूज्यजी ने वि. स. १९२४ के माघ शुक्ला ७ को कलमनामे पर अपनी सही कर दी और नये श्रीपूज्यजी के श्रीपूज्यपद को भी मान्य किया। यति मडल की ओर से भी नौ यतियो ने हस्ताक्षर किये।[१]



१—श्री पूज्योऽपिता वाचयित्वा स्वानुकूलाञ्चवगत्य तत्र च हस्ताक्षर कृत्वा सम्मत्य च तदीय सूरिपद पुनस्तावेव,यतिवरौ तेन सम्मति पत्रेण सह जावरां गमयाञ्चकार,
श्री कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी जीवनम् पृ. ८

इस समाधान वार्ता विवरण "श्रीमद् राजेन्द्र सूरि" नामक पद्य ग्रन्थ के रचयिता श्रीमिश्रीलालजी वकील ने बड़ी रोचकता से वहाँ प्रस्तुत किया है। वे लिखते है—

धरणेन्द्र ने भी की श्रवण, इनकी सभी यह यश-कथा।
अपने किये पर आप, पछताने लगे तब सर्वथा ॥
सोचे बिना संसार में जो, लोग करते काम है।
बस अन्त में उनके लिये, होते बुरे परिणाम है ॥
सोचा उन्होंने फिर न जो, राजेन्द्र को अपनायेगे।
तो मान गौरव नाम के, सब गीत ही मिट जायेगे ॥
यतिवर्य मोती, सिद्धि, आदिक ज्ञान रस जो थे पिये।
धरणेन्द्र ने भेजे उन्हें, इनको मनाने के लिये ॥
आकर निकट इनके, उन्होंने विधि विहित वन्दन किया।
झट आपने भी मोदयुत् उनको उचित आदर दिया ॥
कुशलादि प्रश्नों के प्रथम सुख-सिन्धु में बहने लगे।
फिर पत्र दे धरणेन्द्र का, वे यों इन्हें कहने लगे ॥
हे मान्य ! सब धरणेन्द्र ही का इस विषय मे दोष है।
पर शिष्य के अपराध पर करना उचित क्या रोष है ?
वे आज व्याकुल हो रहे है, याद कर निज पाप को।
अतएव उनके पाट की, सब लाज है अब आपको ॥
जो कुछ हुआ सो हो गया, उस पर न कहना शेष है।
करके कृपा फिर आप चलिये, विनय यही विशेष है ॥
देवेन्द्र से जो कुछ कहा था, आपने वह पालिये।
जैसे सम्हाला था हमें, उस भाँति फिर सम्हालिये ॥

आचार्य ने सुनकर कथन, सुस्मित वदन उत्तर दिया।
है प्रेम से परिपूर्ण उनके, अर्थ यह अब भी हिया॥
भूले हुए हूँ कृत्य सब, जो कुछ उन्होंने किये।
गादी खड़ी की है न मैंने, वैर शोधन के लिये॥

जो बात यतियों के लिये है, शास्त्र में वर्जित अहो!
करने लगे उसको हम सभी, यह धृष्टता कैसी कहो?
हम तो रहें निर्वन्ध, दे उपदेश पर को धर्म का।
क्या पार भी कुछ है, हमारे इस महा दुष्कर्म का?

यदि शास्त्र सम्मत कुछ नियम वे मानले अब भी कभी।
श्रीपूज्य सम्बन्धी अनर्गल त्याग दूं झंझट सभी॥
वे त्याग दे उन्मार्ग को, कहना यही एकान्त है।
शुभ धर्म का विस्तार ही, मेरा अटल सिद्धान्त है॥

क्या बन सका मुझसे, सभी यह व्यर्थ है पिछली कथा।
पर है असम्भव लौट चलना, फिर हमारा सर्वथा॥
जो चाहते हो हों सफल, उद्देश्य प्रिय सब आपका।
तो मान लो कहना हमारा, काम क्या सताप का?

तब नव नियम यति ले गये, धरणेन्द्र के सन्मुख धरे।
कैसे रखे यति आचरण, इस तत्त्व से थे वे भरे॥
स्वीकृत किये धरणेन्द्र ने, लाना उन्हे व्यवहार में।
वह लेख रक्षित है अभी, आहोर के भण्डार मे॥



क्रान्ति की घोषणा – कलमनामा



श्रमण भगवान् श्री महावीरदेव के २३८९ वें जन्मकल्याणक की रात स्वाध्याय अमृत के आनन्द–समुद्र से प्राप्त सारतत्त्व के फल:स्वरूप मुनिप्रवर श्रीरत्नविजयजी ने पाँच वर्षों की अवधि-मर्यादा रखकर धरणविहार चैत्य राणकपुर में क्रियोद्धार का अभिग्रह किया ।

अभिग्रह–धारण के समय ऐसी कोई शुभ घड़ी थी कि जिसका लाभ जैन श्वेताम्बर श्रीसङ्घ को मिला । इत्र का अकिंचन प्रसङ्ग निमित्त बना । मुनिश्री रत्नविजयजी सावधान हुए । उन्होंने व्यवधानों को झटक दिया, बाधाओ के टीले उनको हरा नही सके । तप, त्याग, अनुप्रेक्षा और स्वाध्याय का पाथेय ले वे संयम के राजपथ पर निर्द्वन्द्व चल पड़े । सं. १९२४ की वैशाख शुक्ला ५ को 'श्रीमद्प्रमोदसूरिजी' ने विधिपूर्वक उन्हें श्रीपूज्य पद प्रदान किया । नाम 'श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वरजी' दिया ।

वाणी और विचारों में अडिग, व्यवहार में स्पष्ट और असंदिग्ध निर्भय, ओज, तेज और क्रान्ति का निनाद करती विचार-वीणा से भगवान् महावीर के सिद्धान्तो के अमृत का वर्षण करते हुए उन्होंने गाँव–गाँव और नगर–नगर में जागृति का गगनभेदी शङ्खनाद किया। कष्ट, यातना और उपसर्गों से जूझते हुए श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरजी म० कठोर शूलों को सुकोमल फूल समझते रहे।

जागृति का प्रखर शङ्खनाद अलख जगा रहा था और श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी को सावधान कर रहा था। वे पछतावे की आग में झुलस रहे थे। बदलती हवाओ ने उन्हें पशोपेश मे डाल दिया था। जब सत्ता का उन्माद उतरने लगा, तब अहसास हुआ कि समाधान का सूत्र अब उनके हाथों से छूट गया है। अपने पैरों-तले जमीन खिसकती नजर आई — तड़फ उठे वे। आतुर हो उठे किसी हल — किसी समाधान के लिये। मालवा की ओर से आये यतियो ने जव उधर का हाल बताया तब यति पूज्य अकुला उठ। उन्होंने नामी–गिरामी यतियों को आमंत्रित किया। सलाह–मशवरों के दौर आरम्भ हुए। निर्णय श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी के पक्ष मे दिखाई दिया। प० मोतीविजयजी एव देवसागरजी आदि ने तो साफ–साफ सुना दिया कि यदि यतिवर्ग में व्याप्त स्वच्छन्दता और उद्दण्डता का दमन तत्काल नहीं किया गया तो हम भी नये श्रीपूज्यजी के हमकदम होंगे। आत्म सुख के लिये यह बाना है, न कि इन्द्रियों की चाकरी के लिये।

श्रीपूज्य अब विकट परिस्थिति की झंझा में भटक गये थे, मार्ग अवरुद्ध दीख रहा था। अपने उतावले स्वभाव पर खीझ उठे वे; पर अब क्या होना था ? नदी का पानी दूर चला गया था। तीर और शब्द निकलने के बाद किसी के हाथ नही रहते। वार्ताओं के दौर चले बचने-बचाने के लिये। तब नामी और अनुभवी यतियों पर सारा मसला छोड़ा गया। उन्होने अनुभवी और विचारवान् प० मोतीविजयजी एव मुनि सिद्धिकुशलजी को श्रीपूज्य राजेन्द्रसूरिजी के पास भेजा। दोनो जावरा आये।

जावरा में तब तक कुछ हीन प्रकृति के यतियो ने मत्रों का हौवा खडा करके जनता में सत्रास और आतङ्क मचाने का निष्फल प्रयास किया था, किन्तु परिणाम में कुछ हाथ न लगा था, सङ्घ में रोष व्याप्त था। ऐसे में उक्त दोनों यति जावरा गये। सारा वातावरण और प्रपंच जानकर दुःखी होगये दोनो यति। बडी नम्रता और धीरता से उन्होंने अपने मिशन का लक्ष्य श्रीसङ्घ जावरा के सामने प्रस्तुत किया। अन्ततः दोनो यति जावरा के आगेवानो को साथ लेकर रतलाम पहुँचे। श्रीपूज्य राजेन्द्रसूरि उस समय वहाँ बिराजते थे। वार्ता और परामर्श के दौर चले, परन्तु श्रीपूज्यजी का उत्तर स्पष्ट था कि— 'मुझे पद, यश या कीर्ति की भूख नही, मै तो क्रियोद्धार का मनोरथ कर रहा हूँ। यतिपूज्य यतियों के आचार-विचार मे से अयुक्त और हीन प्रवृत्तियो का निष्कासन करे तो मुझे मजूर है अन्यथा क्या फल और परिणाम आने वाले है, वे आप सब देख ही रहे है।'

यतियों ने जब सब रास्ते बन्द देखे तब सुधार की राह पर चलने में ही अपना हित समझा । अतः श्रीपूज्य से सुधार-पत्र लेकर वे यतिपूज्य श्रीधरणेन्द्रसूरि के पास गये । सुधारों का फार्मूला "कलमनामा" देखकर कुछ बौखलाहट मची पर जब सारी स्थिति का स्पष्ट विश्लेषण हुआ तो अन्य रास्ते सब निरर्थक ही दीखे । जब दोनों यतियों ने समझाया तब सब माने । आखिर यतिपूज्य श्रीधरणेन्द्रसूरि ने "कलमनामे" पर वि. सं. १९२५ की माघ शुक्ला ७ को हस्ताक्षर कर दिये । यतिपूज्य ने श्रीराजेन्द्रसूरिजी की पदवी को भी मान्य कर लिया । उस कलमनामे पर नौ यतियों ने हस्ताक्षर किये ।

वह "कलमनामा" संघ में "नवकलमों" के नाम से विख्यात है । जावरा, रतलाम, आहोर आदि के ज्ञान भण्डारों में इस कलमनामे की प्रतियाँ सुरक्षित है ।

दोनों ओर के आग्रहो से ऊपर उठकर जब हम कलमनामे का अध्ययन करते है तब निष्कर्ष यही आता है कि उस समय जैन श्वेताम्बर सघ मे यतियो का उत्पात सीमातीत हो गया था । ओघा और मुँहपत्ति की आड़ मे वासना, कामना तथा लालसा का पोषण हो रहा था । त्याग के मार्ग चला मुनि आचार-शैथिल्य के दुश्चक्र मे फँस गया था । कलमनामे का सुधार उन्हें नियन्त्रण में करने के लिये अस्तित्व मे आया । वास्तव में यह सत्य है कि पू० पा० गुरुदेव उस समय के प्रभाविष्णु, क्रान्तनिष्ठ और दृढ सकल्पी व्यक्ति थे । प्रश्न के सब पहलुओ का गहरा अध्ययन और उसके हल का सटीक, सतर्क और सप्रमाण निदान

आपका अनुभव था। आप यति–मंडल में अपने तप, त्याग, ज्ञान, अनुभव और कार्य कौशल के लिए प्रख्यात थे। यही कारण था कि "कलमनामा" यतियों ने स्वीकार किया।

यह कलमनामा उस समय की मालवी–मारवाड़ी मिश्रित भाषा मे एक दस्तावेज के रूप में लिखा गया है। उस जमाने की प्रचलित परिपाटी के अनुसार हस्ताक्षर के स्थान पर "सही" शब्द अंकित होते थे। जिन्हें पूरे हस्ताक्षर माना जाता था। कलमनामे के प्रारभ में ऊपर मध्य में "सही यह अंकित है जो पूज्य धरणेन्द्र सूरि के हाथों का है। बाद में लेख प्रारभ होता है। लेख के अंत में यति वर्ग में अपना प्रभाव और वर्चस्व रखने वाले नौ यतियों के हस्ताक्षर है। जिनके नामों के आगे "प०" लिखा है, जिसका अर्थ "पंन्यास" और पडित" दोनों संभव है। कलमनामा मूलत: इस प्रकार है:—

सही श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि

स्वस्ति श्री पार्श्वजिनं प्रणम्य, श्री श्री कालद्री नयरतो, भ. श्री श्री विजय धरणेन्द्रसूरि, यस्स परिकरा, श्रीजावरा नयरे, सुश्रावक, पुण्यप्रभावक, श्रीदेव गुरु भक्तिकारक, सर्वावसरसावधान, बहुबुद्धिनिधान, संघनायक, सघमुख्य, समस्तसघ, श्रीपंचसरावकाँ, जोग्य, धर्मलाभ, पूर्वकलिखंति, यथाकार्यं, चारित्रधर्मकार्य, सर्वनिरविघन, पणेप्रवर्त्तछे, । श्रीदेवप्रसाद तथा संघना विशेष धर्मोद्यम करवापूर्वक, सुखमोकलवा, सर्वविधिव्यवहारमर्यादा, ज्ञासप्रवीन, गुणवंत, भाग्यवत, सुधर्मिदीपता, विवेकी, गृहस्त, संघ, हमारे, घणीवातछो । जेदिवस्येसघनेदेखस्युं वंदावस्युं

ते दिवसे घणो आनंद पामस्यु, तथा तुमारी भक्ति ग्रहस्थे करी, श्रीतपागच्छनी विशेष उन्नति दीसे छे ते जाणछे, उपरंच तुमारे उठे श्रीपूज्यजी विजय राजेन्द्रसूरिजी, नाम करके तुमारे उठे, चोमासो रह्या छे, सो अणाके ने हमारे, नवकलमां बावत, खंची-थी, सो आपसमें मिसल वेठी नही, इणाको नाम रतनविजयजी है, हमारा हाथ नीचे दफ्तर को काम करता था। जणी की समजास बदले हमो वजीर मोतीविजे, मुनिसिद्धिकुशलने आप पासे भेज्या, सो आप नवकलमा को बंदोवस्त, वजीर मोतीविजय पास हमारे दस्तकता सुं मगावणो ठेरायो, ने दो तरफी सफाई समजास कराई दीनी, सो बोत आछो कियो, अबे श्राविजय-राजेन्द्रसूरिजी के साथ साधु छे, जणाने बी वजीर मोतीविजे के साथ अठे भेजाई देसी सों आदेश सदामत भेजता आया, जणी मुजब भेज देसा, अणा को लारा का साधुवासुं हमे कोयतरे दुजात भाव राखा नही और नवकलमा की विगत नीचे मंडी हे जिस माफक हमाने कबूल है–जणी की विगत–

(१) पेली–प्रतिक्रमण दोय टंक को करणो, श्रावक साधु समेत करणा करावणा, पचक्खाण वखाण, सदा, थापनाजी की पडिलेहण करणा, उपकरण १४ सिवाय गेणा तथा मादलिया जतर पास राखणा नही, श्री देहरेजी नित जाणा सवारी में बेठणा नही पेदल जाणा,

(२) दूजी–घोडा तथा गाड़ी ऊपर नही बेठणा, सवारी खरच नही राखणा।

(३) तीजी—आयुग नहीं राखणा, तथा गृहस्थी के पास का आयुग गेणा रूपाला देखो तो उनके हाथ नहीं लगाणा, तमंचा शस्त्र नाम नहीं राखणा ।

(४) चोथी—लुगाईयां सुं एकान्त बेठ बात नहीं करणा, वेश्या तथा नपुंसक वांके पास नहीं बेठणा, उणांने नहीं राखणा ।

(५) पांचमी—जो साधु (यति) तमाखु तथा गांजा भांग पीवे, रात्रिभोजन करे, कांदा लसण खावे, लंपटी अपचक्खाणी होवे एसा गुण का साधु (यति) होय तो पास राखणा नहीं ।

(६) छट्ठी— सचित्र लीलोती. काचा पाणी, वनस्पति कुं विणासणा नही काटणा नही दांतण करणा नहीं, तेल फूलेल मालस करावणा नही, तलाव, कुवा बावड़ी में हाथ धोवणा नहीं ।

(७) सातमी— सिपाई खरच में आदमी नोकर जादा राखणा नही, जीव हिसा करे एसा नोकर राखणा नही ।

(८) आठमी— गृहस्थी से तकरार करके खमासणा प्रमुख के बदले रूपिया दबाय नें लेणा नही ।

(९) नवमी— ओर किसी को सद्दहणा देणा श्रावकणिया नें उपदेश शुद्ध परुपणा देणी, एसी परुपणा देणी नही जणी में उलटो उणाको समकीत बिगड़े एसो परुपणो नही । और रात के बारे जावे नही और चोपड़ सतरंज गंजिफा वगेरा खेल रामत कही खेले नही, केश लांबा वधावे नही । पगरखी पेरे नही, और शास्त्र की गाथा ५०० रोज सज्झाय करणा ।

इणी मुजब हमे पोते पण बराबर पालागा ने और मुहे अगाडी का साधुवा ने पण मरजादा मुजब चलावांगा ने और श्रीपूज आचार्य नाम धरावेगा सो बरावर पालेहोगा। कदाच्च कोई ऊपर लख्या मुजब नही पाले ने किरिया नही साचवे जणी ने श्रीसघ समभायने कह्यो चाहिजे श्रीसघ रा केण सु नही समभे मरजादा मुजब नही चाले जणा श्रीपूज्य ने आचार्य जाणणो नही ने मानणो नही। श्रीसंघ की तरफसूं अतरो अकुश वण्यो रखावसी तो उपर लख्या मुजब श्रीपूज तथा साधुलोग अपनी अपनी मुरजादा मुजव बराबर चालसी कोई तरे सु धर्म की मुरजादा मे खामी पडसी नही। श्रीसंघने ऊपर लख्या मुजव बन्दोबस्त जरूर राख्यो चाहिये। अठामु तो हमा साधु लोगारा दस्तकद कराय भेज्या है सो देख लेरावसी स १९२४ मिति माह सुदी ७, प मोती विजेना दसकत, प. देवसासागरा ना दसकत, प केसर सागर ना दसकत, प नवलविजेना दसकत, प. वीरविजयना दसकत, प खिमाविजेना दसकत, प लब्धिविजेना दसकत, प ज्ञान विजय ना दसकत, प सुख विजेना दसकत।

इत्र का विवाद एक सामान्य विवाद था, परन्तु इस विवाद ने दफ्तरीजी की नीद उडा दी। विचार-शून्यता और आचार-हीनता ने त्यागी सघ और उसके नेता पर ऐसा जादू डाला था कि वे पतन के रसातल मे जा पहुँचे थे। धर्माधिकारी की स्वच्छन्दता पर नियत्रण नही लगाया गया तो पतन ही पतन है। इत्र की सुगध तो कुछ घण्टो बाद समाप्त हो गयी, किन्तु

वह दफ्तरी के अन्तस् तल में जो वेदना, संताप और शल्य पीड़ा छोड़ गई थी उसीका समाधान उक्त "करारनामे" की स्वीकृति है। श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी ने उस समय यह जो नवकलमों का कलमनामा यतियों और उनके श्रीपूज्य से मंजूर करवाया, इसमें मात्र उनश्री का निर्दंभ विचार-प्रभाव और शासन-भक्ति ही दृष्टिगोचर होती है। कलमनामे में उन्होंने अपने लिए किसी प्रकार का सम्मान और प्रतिष्ठा का एक शब्द भी प्रयुक्त नहीं करवाया। जैन मुनि के आचार और प्रभाव तथा विचार का पुनरुद्धार ही उनके हृत्तल मे रात- दिन निरन्तर रममाण था। कलमनामे का गहराई से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट होती है। श्रीधरणेन्द्रसूरि और यतियो से उन्हे किसी प्रकार का विद्वेष नही था।

कलमनामे का एक-एक शब्द और एक-एक नियम वस्तुतः उस युग में यतिसमुदाय किस तरह आचार-विचार मुक्त हो गया था, उसका एक जीवन्त शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है। इन नियमों का गहरा अध्ययन करने से यह तथ्य भी उभर कर सामने आ जाता है कि इस कलमनामे को मजूर करवा कर असली जामा पहिनाने में अनेक बाधाएँ आयी होंगी तथा गभीर सघर्ष हुआ होगा। यह ध्वनि आठवी कलम से निकलती है। इस कलम में कहे गये शब्द अन्य कलमों जैसे स्पष्ट होते हुए भी अन्तस् में गंभीर प्रतिबद्धता लिये हुए है।

सुधार करने के लिये उद्यत उद्धारको को कई बार बडी विचित्र

परिस्थितियों और गंभीरतम क्षणो में रहना पड़ता है। उन्हें विरोध प्रहार, भ्रान्तियों और सकष्टों का सामना करना पड़ता है। इस कलम में द्रव्य संग्रह मोह का निरसन किया गया है; परन्तु ऐसा लगता है कि समाधान और सुधारण का कार्य मन्द हुआ जाता होगा; अतः मध्यस्थ समाधानकारों ने "तकरार" और "दबाव" इन दो शब्दों की बढ़ोतरी करके उपद्रवियों के कोलाहल को नाकाम किया। दीखने में मध्यम किन्तु क्रान्तिनिष्ठ इन नियमों का यतिराजो और यतियों द्वारा परिचालन उस जमाने में सर्वथा असभव था। यह इसलिए कि यतियों का शासन और प्रभाव जबर्दस्त था। राजसी वैभव की सुरक्षा के लिए शस्त्र-सग्रह भी हो गया था। सग्रह करनेवाला स्वय या अन्य से प्रयोग भी करवा सकता था। तीसरी और सातवी कलमों को मिलाकर विचार करने से यह तथ्य भी स्पष्ट होता है। पाँचवी कलम से नशीली वस्तुओं के प्रयोग का भी पता चलता है। यह भी यतियों के पतन का प्रमाण है। अतः आठवी कलम की रचना में सावधानी और गर्भिता रहस्य रखा गया है।

वास्तव में एक तानाशाही शासन के शासक को अपनी प्रतिभा और अपने तप-त्याग के बल पर चिन्तक ने अहिसक मार्ग से परास्त कर दिया। इस कलमनामे की फलश्रुति श्रीविजयराजेन्द्र-सूरिजी के जीवन की मौलिकता विशिष्टता और शासन-भक्ति का अचूक प्रमाण है। कलमनामा मजूर कराने में उनकी लगन और पठित यतियो मे उनका प्रभाव भी सक्रिय था। वे वास्तव

में जन्मसिद्ध प्रभावक थे। कलमनामे की मंजूरी सुनकर वे प्रसन्न थे।

यतियों का राजसी वैभव त्याग करके जाते हुए क्रिया का पुनरुद्धार करने के लिये तमाम सत्ता तथा विलास का त्याग और दूसरे छोटे-बड़े राजपुत्रों जैसे पूज्यों यतियों को त्यागनिष्ठ मुनि-जीवन का मार्ग दिखलाना भव्य मनोज्ञ चित्र यह कलमनामा हमारी आँखों के सामने उपस्थित करता है।

भरे-पूरे घरके, स्नेहिल भाई बहिन आदि का त्याग करने वाले ये पुनरुद्धार जब जावरा में छड़ी, चामर-पालखी-छत्र आदि के शाही ठाटबाट और यतियो के विलासी जीवन आदि को स्वयमेव त्याग करते हैं, तब इनकी त्याग भावना और त्यागप्रियता कितनी अविचल और सशक्त होगी इसे शब्दों में समझाने की आवश्यकता नही है।

इत्र विवाद से उत्पन्न संघर्ष का सुखद अन्त दोनों ओर के हित-चिन्तकों के लिए संतोषप्रद था। जिस दिन यह कलमनामा श्री पूज्यराजेन्द्रसूरिजी को दिया गया, उस दिन जावरा में अनेक सुप्रसिद्ध यति आये थे। कहते है इनकी सख्या २५० के आसपास थी, जिन में पं. श्रीमोतीविजयजी मुनि सिद्धिकुशलजी, श्री अमररुचिजी, लक्ष्मीविजयजी, महेन्द्रविजयजी, रूपविजयजी, फतेहसागरजी, ज्ञानसागरजी, रूपसागरजी, आदि मुख्य थे।

समाधान के सहर्ष स्वीकार होने पर पन्यास मोतीविजयजी, महेन्द्रविजयजी, और सिद्धिकुशलजी ने श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि की

ओर से श्रीराजेन्द्रसूरि की श्रीपूज्य पदवी की मान्यता की बात सभा में प्रकट की। जावरा के तथा आसपास के ग्राम नगरों के उपस्थित अग्रेसर प्रसन्न हो गये। उसी समय भीडर (मेवाड़) के यति श्रीअमररुचिजी के दीक्षा-शिष्य श्रीप्रमोदरुचि नामक यति जो २६ वर्षों के तरुण प्रतिभाशाली और संगीत तथा आशुकवित्व शक्ति से सम्पन्न थे, तत्काल स्वयं रचित अवसरोचित काव्य पढ़ा—

इही संसार-समुद्र के अंदर, मोह माया जल पूर अपारा।
तृष्णारूप किलोल चढ़े जहँ, अष्ट महामद मोह अटारा॥
भावुकरूपि जहाज डुबोवन, बाजत पौन का काल करारा।
धन्य मुनि इह गहन समुद्र में, राजेन्द्रसूरि गुरु तारनहारा॥१॥

मेघ घटा सुछटा असमान ज्युं,
संजम साज मुनिमग धारी।
भूरि जना रिछपाल कृपाल ज्युं,
अमृत वेण सुताप विडारी॥
काल-कराल कुलिंग विखण्डन,
मण्डन शासन जैन सुधारी।
पंचम काल चले शुभ चालसुं,
सूरि विजय राजेन्द्र जितारी॥२॥

उदयो दिनकर तेज प्रताप थी, सोहम नभ निरधार।
सूरि विजय राजेन्द्र दिपाव्यो, जिन शासन जयकार॥३॥

यतिगण और उपासकगण ने समयोचित वक्ता प्रमोदरुचिजी का

साथ दिया। सभा में उल्लास और आनंद तथा जयजयकार, छा गया।

पन्यास मोतीविजयजी ने अब श्रीपूज्य राजेन्द्रसूरिजी से यतिमण्डल में पुनः पधारने की सानुनय प्रार्थना की, उपस्थित यतियों ने भी इसीलिए अनुनय की, प्रसन्नमना श्रीपूज्य ने अपने अभिग्रह की बात कहकर उत्तर दिया वि. सं. १९२५ के चैत्र शुक्ला १३ को मेरे अभिग्रह की पाँच वर्षों की अवधि समापन हो रही है अतः मैं अब कृतकार्य हुआ। मुझे तो आत्मसुख के लिए क्रियोद्धार करना है। यह बात सुन यतिगण में आशा-निराशा प्रसन्नता की मिश्र प्रतिक्रियाएँ हुईं। प. मोतीविजयजी दुःखित थे। पर वे कर ही क्या सकते थे? अभिग्रह की बात को प्रथम दिन से ही वे जानते थे, अतः निराश भी थे तो कलमनामा मंजूर करवाने की सफलता के लिए यशःभागी भी।

आये हुए यतियों ने जावरा में कुछ दिन मुकाम किया और क्रियोद्धार के दिन पुनः आने का विचार करके रवाना हुए। कलमनामा स्वीकार होने पर वि. सं. १९२३ के भाद्रपद शुक्ला २ के दिन इत्र के विवाद अवसर पर श्रीराजेन्द्रसूरिजी (तब श्री रत्नविजयजी) ने कहा था कि—

"श्रीमान्! देखते जाइये, हवाएँ किधर बहती है? मेरा तो विचार–निर्णय शुद्ध साध्वाचार प्रचार के लिए क्रियोद्धार का है, पर इस उन्माद का उपचार भी अत्यावश्यक है रोग यदि बढ़ गया हो तो अंग-भंग का मौका भी आता है अतः पहले यह

शल्य उपचार माँगता है, सो करना ही पड़गा। श्रीमान् ! औषध के कड़ुवे घूँट पीने को तैयार रहें। मैं औषध अतिशीघ्र भेजूँगा"।

उन्होंने ये वचन ५१५ दिन अर्थात् १७ महिने और पाँच दिन में सार्थ और सफल कर दिया। जो तमन्ना थी, वह समापन हुई। जावरा का चातुर्मास और जावरा पधारना तथा जावरा के श्रीसघ के अग्रसरों का पुराने श्रीपूज्य को दो टूक उत्तर देना तथा संघर्ष में छली यतियों के सन्ताप सहना आदि सब तब सार्थक हो गये जब यतिक्रान्ति का यह घोषणापत्र (कलमनामा) अस्तित्व में आ गया। वास्तव में गत शताब्दि की यह घटना अविस्मरणीय है। मात्र एक व्यक्ति अपने बल-पराक्रम से युगों पुराने और गहरे जमे कचरे को एक झपाटे में साफ कर दे आश्चर्यजनक संवाद है यह।



निर्णय

卐

किसी परमशुभ पल में यतियों की शिथिलता के निवारण का शुभ विचार श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी को आया था। जिसने उनके विचारोंमें दृढ़ता, व्यवहार में निडरता, वाणीमें ओजस्विता, मुख पर तेजस्विता और कार्य में क्रांति की केशर घोल दी थी। कष्ट, वेदना और पीड़ा सहकर भी आप अपने कार्य की सफलता के लिये संघर्षरत रहे। किन्तु आपका कार्य निजी द्वेष, ईर्ष्या या सन्मान पाने की लालसा से सर्वथा मुक्त था अतएव ही सफलता मिल सकी। इत्र की सुवास तो उसी दिन उड़ गई, पर कार्य सफलता की सुगंध आज भी महक रही है। युगों-युगो तक गुरुदेव का यह यशवाद निनादित रहेगा।

इत्र के विवाद से उत्पन्न संघर्ष का पाँचसौ पद्रह दिनो के बाद सुखद समापन हो गया। श्रीधरणेन्द्रसूरिजी की ओर से इन्हें वापस यति संघ में आने की हार्दिक प्रार्थना थी, पर आपतो

शुद्ध चारित्र पालन के लिये कृतसंकल्प थे। अतः यतिपूज्य को इन्कार कर दिया। आए हुवे यति भी इधर-उधर मालव में प्रस्थित हुवे। आपके क्रियोद्धार के निश्चय से मालवे के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर के संघों में खुशियाँ छा गई। अनेक नगरों के संघों के प्रतिनिधियों ने यह शुभ कार्य अपने-अपने नगर में करने की भावना भाई। तब जावरा के संघ ने भी अनुनय की।

माघ शुक्ला पूर्णिमा को प्रातः व्याख्यानसभा में अनेक ग्रामों नगरों के अग्रेसर आए। जावरा, मंदसौर, खाचरोद, और रतलाम के प्रतिनिधियों के मन में अपने-अपने नगर की ओर का भाव चेहरों पर खेल रहा था। व्याख्यान-रस में प्रत्येक श्रोता सराबोर थे, कि जावरा नवाब तथा दीवान अपने रिसाले सहित व्याख्यान में आए। व्याख्यान आधा हुआ। ग्राम-ग्राम नगर नगर के संघ-नेताओं ने अपनी-अपनी विनतीयाँ प्रस्तुत की। तब पारिख छोटमलजी, मीठालालजी जन्नाणी, पृथ्वीराजजी धारिवाल, रिखबचन्दजी महेता तथा लोढ़ा महेता कांठेड़ रुनवाल आदि ने भी अपने नगर जावरा के लिये प्रार्थना की। नवाब जावरा और दीवान जावरा ने भी जावरा को ही यह सौभाग्य प्रदान करने की अभ्यर्थना की। यद्यपि खाचरोद, रतलाम और मदसौर के प्रतिनिधियों का आग्रह तीव्रतर था; पर जावरा के संघ के साथ जावरा के नवाब का भी तीव्रतम आग्रह था। अत. जावरा सघ को यह लाभ मिलने का अवसर मिला। जावरा का सघ बड़ा ही प्रसन्न था। श्रीपूज्यजी ने जावरा से ३५ यतियों सहित मालवे में विहार किया।

यद्यपि श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी तथा यतिगण के प्रभावी और नामी यतियों का हृदय शुद्ध था और उन्होने कलमनामा शुद्धमन से माना था और हस्ताक्षर किए थे और उसका पालन भी प्रारंभ हो गया था। तथापि कुछेक यति हीनमना थे। कलमनामे की पाँचवी कलम में अनेक नशे और लांपट्य पर करारी चोट की गई थी। ऐसे हीनाचारी आचार शुद्ध नहीं करे तो वे यतिसंघ से निष्कासित हों या निष्कासित किये जाना तै हुआ था। श्रीधरणेन्द्रसूरि और उनके नये दफ्तरी देवसागर, महेन्द्रविजयजी, मोतीविजयजी आदि ने हीनाचारी यतियों को कलमनामे के सख्त पालन की हिदायत दे दी थी। अतः कुछेक यति अनुशासन के कठोर पालन से चिढ़ गए थे। उनमें बदले की भावना उभर आई। जावरा संघ और श्रीपूज्य राजेन्द्रसूरिजी उन्हें इस दोष के दोषी नजर आये। वे यति कुछ मंत्रो के प्रयोगो के जानकार थे। अतः अपने इस बल का उपयोग करके जावरा संघ को तथा नए श्रीपूज्यजी को भयभीत करना चाहते थे। उन्हें उनके द्वेष और घृणा ने दृष्टिहीन कर दिया था। जावरा आये वे यति। धूर्तता से वे अपना काम करना चाहते थे। जावरा के मध्यम बुद्धि श्रावक उनके मुगालते में आगये वे यति जावरा में जमे। मंत्र प्रयोग प्रारंभ किये, यतियों का जरूरत से ज्यादा कोमल बोलना, चलना तथा अन्य व्यवहार देखकर, छोटमलजी पारिख का मन शंकाशील हुआ। यतियों के प्रत्येक व्यवहार पर नजर रखी जाने लगी। आखिर धूर्तों की धूर्तता का भंडा फूट गया। उनका मंत्र प्रयोग सफल होता तो जावरा में उस दिन बड़ा

अनर्थ हो जाता। पर विधि का नाटक उन यतियों के प्रतिकूल था। प्रयोग निष्फल हुआ, बदनामी मिली जो नफे में थी। रात के अंधेरे में पलायन करने मे ही उनने अपना भला देखा। जावरा में हुई बदनामी और निष्फलता से उन यतियों का द्वेष खतम हो जाना था, पर ऐसा नही हुआ। वे नये अवसर की ताक में रहे। अपनी योजना को नये सिरे से आरम्भ करने का प्रारूप बनाने लगे।

इधर वास्तव मे श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी एक परम गीतार्थ और आत्मार्थी मुनि थे। अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र को नवल और प्रबल बनाने मे वे सदा जागृत रहते थे। किसी भी ओर से किसी भी तरह की कमजोरी उन्हें पसन्द नही थी। दोष और निर्बलता को उनने अपने पास फटकने भी नही दिया। सूत्रकालनी चारित्र-गवेषणा उनको प्रिय थी। उनके अन्तम् में हर पल और हर समय शासन उन्नति और मुनि की पवित्रता के लिये विचार-चिता रहती थी। उन्हें श्रीपूज्य से द्वेष नहीं था और न यतिगण से द्वेष था। उनके विचारो का प्रत्येक स्पन्दन प्रोज्ज्वलता पवित्रता और प्रगति के पथ पर बढता जाने के लिये था। कालप्रभाव से आये शैथिल्य की कालिख को पोंछ कर साफ करने की चिन्ता ने ही उन्हे क्रियोद्धार के लिये प्रेरित किया था। वि सं. १९२० के चैत्र शुक्ला तेरस के दिन से वे इस ओर धीमी किन्तु दृढ़ गति से बढ़ रहे थे। इत्र वाली घटना ने गति में वेग भर दिया। यद्यपि घटना सामान्य थी, पर सामान्य ने असामान्य कार्य की सफलता के द्वार खोल दिये। कलमनामे की स्वीकृति के बाद तो

चारित्रिक शुद्धि की लालसा बलवती हो गई थी, यद्यपि क्रियोद्धार का समय दूर था, परन्तु क्रिया रूचि, व्यवहार और आचार मर्यादा से पोल समाप्त हो गई थी। सारी विधियाँ समय पर होती। दिनों दिन आचार प्रोज्ज्वलता पर पहुँच रहा था। इनकी चारित्रिक गवेषणा की तड़प और रूचि के लिए इनके प्रतिस्पर्द्धी भी नतमस्तक थे।

हमने वि. सं. २०१३-१४ में आप को दिवगंत अर्धशताब्दि के अवसर पर शताधिक व्यक्तियों को आपकी व्यवहार प्रणाली पर पूछताछ की थी, और आजतक दर्शकों को पूछते है, तो उत्तर की भाषा में फेर हुआ होगा, पर भाव सबके समान है कि "श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी जैसा चारित्र का पालक आज के ज़माने में होना असंभव है।

वास्तव में यदि चारित्री चारित्र से अबल रहा तो कर्म-ध्वंस का उसका मनोरथ सफल कैसे हो सकता है? चारित्रहीन[१] व्यक्ति को बहुत से शास्त्रों का अध्ययन भी क्या लाभ दे सकता है? क्या कभी लाखों दीपकों का समवेत प्रकाश भी अंधे को देखने में सहकारी हो सकता है? क्रियाशून्य ज्ञान शक्तिशाली नही है[२]।



१– सुबहुं पि सुयमहीयं, किं कुाही चरणविप्पहीणस्स ।।
अंधस्य जहा पलिता, दीव सयसहस्स- कोडीवि ।। ११५२ ।। वि. आ. भाष्य।

२– क्रियाविरहितं हन्त, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।। २ ।। क्रियाष्टकम् ।।

जिस प्रकार चन्दन का बोझ गध के लिये भारी ही होता है, उसी तरह चारित्रहीन ज्ञानी का ज्ञान भार ही है। वह सुगति का साथी नहीं होता[3]। चारित्र की पवित्रता से आश्रव का निरोध होता है[4]। चारित्र की सम्पूर्णता चारित्री को शैलेसी भाव देती है[5]। जो अशान्त और असमाहित है। जो अशान्तमना है, वह प्रज्ञान बुद्धिवाद से आत्मतत्व को कभी नहीं पा सकता[6]। चारित्र की शुद्धि दुष्प्राप्य है[7]।

कुछ ऐसे ही विचार–स्फुलिगों ने इनके जोवन को प्रोज्ज्वल किया था। अतएव 'क्रियोद्धार' जैसे सर्व जन दुर्लभ और दुरूह मार्ग में अपना जीवन रथ चलाने को उद्यत हुए थे। शत–शत विघ्नो से घबराना उनके लिये असम्भव था। पतित यतियो ने ने खाचरोद में जाकर आपको भयभीत करने के लिये मंत्र प्रयोग किये, पर श्रीप्रमोदरुचिजी एवं वजीर हमीरविजयजी की चकोर नजरों से वे बच नही सके। वहाँ भी उन्हें असफलता का मुँह देखना पडा। अतः मालवे से पलायन करने में ही अपना श्रेय समझा।

जावरा और खाचरोद की घटनाओं का निष्कर्ष लाभप्रद ही रहा। उपासक वर्ग ने यतियो का मनोमालिन्य देख लिया। फल स्वरूप दृढता से प्रतिकार की भावना बलवती हो गई।



३– जहा खरो चदन भारवाही, भारस्स भागी ण हु चदणस्य ॥
एव खु नाणी चरणेण हीणो, भारस्स भागी न हु सुग्गई य ॥
४– चारित्तेण निगिण्हाई – उत्तरा० २८।३५
५– चारित्त सपन्नयाए ण सेलेसीभावं जणयइ उत्तरा २९-६२।
६– ना विरतो दुश्चरितान्, ना शान्तो ना समाहित. ॥
ना शान्त मनसो वापि, प्रज्ञानेनमाप्नुयात् ॥ कठोपनिषद् १।३।१४
७– चारित्र शुद्धिस्तु मता दुरापा।

जावरा में पदार्पण



यतिमण्डल की शुद्धि के लिए श्रीधरणेन्द्रसूरिजी के कलमनामों पर हस्ताक्षर हो जाने पर श्रीपूज्य श्रीराजेन्द्रसूरिजी महाराज ने मालवे के ग्राम–नगरों में विहार किया । जहाँ भी वे पधारे जनता ने दिल खोल कर स्वागत किया । वीर वाणी का पान कराते–कराते आप ज्येष्ठ सुदि में खाचरोद पधारे । खाचरोद मे १५ दिन तक स्थिरता की । श्रीपूज्यजी की दिनचर्या देख कर जनता दङ्ग रह जाती थी । जावरा के अग्रसरो ने खाचरोद जाकर आपको जावरा पधारने के लिये प्रार्थना की । आपने क्षेत्र स्पर्शना योग कहा । खाचरोद की जनता का तीव्र आग्रह होता रहा, परन्तु आप खाचरोद से बड़ावदा होकर जेठ सुदी पूर्णिमा को आप जावरा पधारे । जावरा की जनता को खबर लग गई थी । नगरकोट से दूर–दूर तक लोग जा पहुँचे और खाचरोदी दरवाजे तक आते–आते तो मानवगण लहराते

सागर सा दिख रहा था। जिधर देखो उधर मालवी पगड़ियों और सलमांसितारों की टोपियों की रंग बिरंगी सज्जा ही दिख रही थी। नगर मुख्य बाजारो में होते हुए जुलूस जिनालय के पास के तपागच्छ- उपाश्रय में पहुँचा। जिनार्यों के दर्शन करने के बाद श्रीपूज्यजी ने धर्मोपदेश दिया। सभा विसर्जित हुई। परम गुरुभक्त श्रद्धालु पारिख छोटमलजी और दो चार अन्य श्रावक श्रीपूज्यजी के निकट बैठे थे। वजीर हमीरविजयजी भी समीप बैठे थे, श्रीधनविजयजी और प्रमोदरुचिजी भी किसी विचार-चिन्तन मे लीन थे। तब ही धनविजयजी का ध्यान पाट के नीचे रखे किसी मिट्टी के पात्र पर गया, उनने उठ कर देखा, स्तव्ध होगए वे। प्रमोदरुचिजी को इंगित किया। दोनोंने विचार विमर्श किया, वे कुछ करने के लिए उद्यत हुए कि श्रीपूज्यजी बोले—धन! व्यक्ति जब यश ख्याति प्रख्याति और लालसा के जंगल में भटक जाता है, तब वह हीन प्रक्रिया से भी गुजर सकता है। ईर्ष्या और क्रोध का फल है कि यह मत्र प्रयोग किया गया है। परन्तु इस पर अपने को कुछ भी क्यों यत्न करना नही चाहिए! सामान्य और मुग्ध जीवो को भ्रम मे डालने का यह प्रयत्न है। क्यो व्यग्र होते हो? यह सब व्यर्थ है। श्रीपूज्यजी की बात सुन रहे थे पारिख छोटमलजी, पसीना हो गया उन्हे हडबड़ाए वे। तब प्रमोदरुचिजी ने कहा—महाराज! आपका फरमाना सर्वथा उचित है, पर इस भ्रम का उच्छेद नहीं हुआ तो यह यतियों की चाल हानिकर होगी! प्रभो? आप निडर निर्भय है, पर देखिये न पारिखजी और यतियों की दशा,

मुस्कुराते हुए श्रीपूज्यजी ने श्रीपञ्चपरमेष्ठि महामंत्र का स्मरण करके, मृत्तिका-पात्र पर नजर डाली, पात्र फूट गया। किसी दुराशयी यति ने अपनी हल्की मनोकामनाओं की पूर्ति का उपक्रम किया था। वह निष्फल हो गया।

नगर में यह खबर वायुवेग से फैल गई। जिसने सुना वह आश्चर्य चकित, स्तब्ध और क्रोध से भन्ना गया। प्रयोग करने वाले यतियों ने नगर के बदलते वातावरण में अपने को सर्वथा असुरक्षित महसूस किया। अन्ततोगत्वा जावरा से भागने में ही अपना भाग समझा। दूसरे दिन व्याख्यान समाप्त होने पर जनता को पारिख छोटमलजी ने सारी घटना का हाल सुनाया। तब श्रीपूज्यजी ने भयकातर जनता को शान्त्वना दी। पर आगे फिर ऐसी कोई घटना अज्ञात में हो गई तो क्या होगा? यह प्रश्न सबके मुख पर था। तब ही महेन्द्रविजयजी नामक वृद्ध यति दो तीन यतियों सहित आये। श्रीपूज्यजी को वंदना करने के बाद घटित घटना सुन कर, वे बोले नीच मनोवृत्ति यतियों का यह उत्पात है। क्या होना है इससे? आप सब आश्वस्त रहें। कुछ भी उनकी नही चल सकेगी। वृद्धयति महेन्द्रविजयजी क्रियोद्धार-महोत्सव देखने के लिए आये थे। मंत्रशास्त्र ज्योतिष और आयुर्वेद शास्त्रो के विद्वान् दक्ष और कुशल अध्येता थे। उनकी बात से प्रसन्न उपासकगण बिखरे। दो प्रहर को क्रियोद्धार का शुभ दिन वि. सं. १९२५ के आषाढ़ वदि १० शनिवार का निर्धारित किया गया।



क्रियोध्द्वार



क्रिया और उद्धार इन दो शब्दो के जोड़ से क्रियोद्धार निष्पन्न हुआ है। जिसका मतलब है क्रिया का उद्धार। चारित्र संवधी विधिमार्ग मे आई शिथिलता और हीनाचार को छोड़ कर पुनः चारित्र विधिमार्ग का स्वीकार। अर्थात् कालप्रभाव से साध्वाचार-पालन मे जो-जो ऐसी प्रवृत्तियाँ आई हो कि जो जिनशासन और साध्वाचार ही के सर्वथा प्रतिकूल हो उन्हे छोडना, तथा शुद्ध साध्वाचार पालन करने का प्रारंभ किया जाना क्रियोद्धार है। क्रियोद्धार कर्ताओ के क्रियोद्धार विधि की दो परम्परा प्रचलित है। श्रीमहानिशीथ सूत्र के तीसरे अध्ययन के प्रारंभ में इस का संदर्भ प्राप्त है। क्रियोद्धारक दो तरह के होते है।

१– उपसंपन्नक–

२– शिथिलाचार वर्जक–

जिसकी गुरू-परम्परा में सात आठ पाट परम्परा से शिथिलाचार आया हो ऐसा कोई शिथिलाचारी आचार्य उपाध्याय पन्यास या मुनि यदि शिथिलाचार छोड़ कर, क्रियोद्धार करके उग्रविहारी होना चाहे तो उसको अपने पूर्व गच्छ और पूर्व गुरु का त्याग करके, अन्य उग्रविहारी सुविहितों के गच्छ तथा गुरु की सानिध्यता स्वीकार करके क्रियोद्धार करना चाहिये। इस प्रकार के क्रियोद्धार करने वाले आचार्य उपाध्याय पन्यास या मुनि को "उपसम्पन्नक" कहते है।

उपसपन्नकों के द्वारा उपसंपदा ली जाती है, जो शास्त्र मर्यादानुसार होती है। उपसंपदा कार्य के भेद से पाँच प्रकार की है[१]। श्रुतोपसंपदा, सुख दुखोपसंपदा, क्षेत्रोपसंपदा मार्गोपसपदा, और विनयोपसंपदा। अन्यत्र कार्य के भेद से दो प्रकार[२] की तथा तीन प्रकार से भी उपसंपदा भेद है।

जिसकी गुरुपाट परम्परा में दो तीन पेढी से शिथिलाचार प्रचार हुआ हो, ऐसे आचार्य उपाध्याय पन्यास अथवा साधु यदि शिथि-



१— सुय सुहदुक्ख खेत्ते, मग्गे विगम्रोव संपयाए य।
श्रुतोपसम्पत्, सुखदु खोपसम्पत्, क्षेत्रोपसम्पत्, मार्गोपसम्पत्, विनयोपसम्पत् एवं एषा पञ्चविधासम्पत्। वृ. ४ उ.

२— उपसम्पत् द्विधा, साधुविषया, गृहस्थविषया च, ज्ञानादिहेतोर्यदपर गण गत्वोप सम्पद्यते सा साधुविषया, यत्पुनरवस्थाननिमित्तं गृहिणामनुज्ञापन सागृहस्थ विषया। वृ १३

३— तिविहा उवसपया पण्णत्ता तं जहा आयरियत्ताए, उवज्भायत्तए, गणिअत्ताए।
—श्रीत्थानांग सु० ३ ठाणा

लाचार छोड कर क्रियोद्धार करना चाहे तो वे अपनी गुरुपरम्परा में ही शिथिलाचार जनक असु विहित प्रवृत्तियों का त्याग करके सुविहित मार्ग पर चले। ऐसे क्रियोद्धारक को अपने गच्छ और गुरु को त्याग कर नये गुरु धारण करने की आवश्यकता नही है।

कौन क्रियोद्धारकर्ता क्रियोद्धार के समय अन्य गुरु करे और कौन गुरु न करे? इस प्रश्न का समाधान पडित नगर्षिगणि के प्रश्न का समाधान करते हुए जगत्गुरु श्रीहोरविजयसूरिजी म० ने इस प्रकार फरमाया है—

"सत्तट्ठ गुरुपरम्परकुसीले एगवितिगुरुपरम्परकुसीले य" इति श्री महानिशीथतृतीयाध्ययनप्रारम्भप्रस्तावेऽस्य कोर्थ. ? इति प्रश्नोऽत्रोत्तरम्—"सत्तट्ठगुरुपरम्पर कुसीले एगवितिगुरुपरम्परकुसीले य" इत्यत्र विकल्पद्वयप्रतिपादनादेवसीयते यदेकद्वित्रिगुरुपरम्परां यावत्कुशीलत्वेऽपि तत्र साधु समाचारी सर्वथोच्छिन्ना न भवति तेन यदि कश्चित्क्रियोद्धार करोति तदान्यसाम्भोगिकादिभ्यश्चारित्रोपसम्पद् ग्रहण विनापि सरति। चतुरादि गुरुपरम्पराकुशीलत्वेतु साम्भोगिकादिभ्यश्चारित्रोपसंपदं गृहीत्वेव क्रियोद्धार करोति नान्यथेति।

—श्री हीर प्रश्नोत्तर द्वितोय प्रकाश प्रश्नाङ्क ७३

भावार्थ— "सत्तट्ठ गुरुपरम्परकुसीले एगबिति गुरुपरम्परकुसीले य" इस प्रकार श्रीमहानिशीथ सूत्र के तीसरे अध्ययन की शुरुआत के प्रस्ताव में जो पाठ है, उसका अर्थ क्या है?

उत्तर— "सात आठ गुरु परम्परा से कुशीलत्व चला आरहा हो
और एक, दो, तीन गुरु परम्परा से कुशीलत्व चला आता हो।'
यहाँ दो विकल्पों का प्रतिपादन करने से ज्ञात होता है कि एक
दो या तीन गुरु पाट परम्परा से कुशील प्रवृत्ति चली आती हो
तो वहाँ साधु समाचारी का सर्वथा उच्छेद नहीं होता, अतः
जो कोई क्रिया उद्धार करे तो अन्य सांभोगिक साधु, आचार्य
और उपाध्यायादि के पास से चारित्रोपसंपदा ग्रहण किये बिना
भी चल सकता है। यदि चार आदि गुरुपाट परम्परा से कुशी-
लत्व चला आता होवे तो अन्य सांभोगिक साधु, आचार्य उपा-
ध्यायादि के पास चारित्रोपसंपदा ग्रहण करके ही क्रियोद्धार कर
सकता है, अन्यथा नही।

वि. सं. की तेरहवी शताब्दी में चैत्रगच्छीय श्रीदेवभद्रगणि और
बृहत्गच्छीय श्रीजगच्चन्द्रसूरिजी ने जो क्रियोद्धार किया
था, वह उपसंपन्नक नही था किन्तु शिथिलाचार वर्जक था।
श्रीमद् आनन्दविमलसूरि और पन्यास सत्यविजयजी के किये
क्रियोद्धार भी शिथिलाचार वर्जक थे।

उपकेश गच्छ के एक आचार्य श्रीयक्षदेवसूरि ने जो क्रियोद्धार
किया था, वह उपसंपन्नक था। उन्होने चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री
चन्द्रसूरि से उपसंपदा लेकर क्रियोद्धार किया था।

प्राचीन शास्त्रीय आचरणानुसार शिथिलाचार वर्जक क्रियोद्धार
करने वालों को अन्य गुरु करने की आवश्यकता नही है। यह
महानिशीथ सूत्र प्रणाली है। श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी म० द्वारा

किया गया क्रियोद्धार शिथिलाचार वर्जक था। उपसम्पन्नक क्रियोद्धारक वे नही थे। दो तीन पाट परम्परा से उनकी परम्परा में शैथिल्य आया था। अतः उन्हे अन्य सांभोगिक गुरु करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतएव उन्होंने किसी अन्य गुरु की सानिध्यता के बिना स्वयमेव क्रियोद्धार किया था। जो उचित और प्रमाण सम्मत था।

जो लोग अपने आपको पडित और शास्त्रज्ञ समझते है उन्होंने गुरुदेव के कार्य और उपकार के द्वेष से जलकर संघ में अफवाह फैला दी थी कि "श्रीराजेन्द्रसूरिजी के गुरु नहीं था" अफवाहें उडाने वाले उन पडितो की मायाचारी पर हमें दया आती है। क्योकि वे महाव्रती और साधु है फिर पठित है। तथापि उन तेजोद्वेषियों ने गुरुदेव को परेशान करने के लिये "इनके गुरु नही थे"। यह भ्रम फैला दिया। पर वे महाव्रती सनातन सत्य को भूल ही गये। शास्त्रपाठ को उनने पढ़ा भी नही और समाज में बावेला खड़ा किया। श्रीपचम गणधर श्रीसुधर्मास्वामी की अविछिन्न परम्परा में पैसठवे पट्टधर आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिजी म. के स्वर्गवास के बाद छियासठ्वे आचार्य श्रीकल्याणसूरिजी के शासनकाल मे आचार शैथिल्य ने जोर पकड़ा। अतः श्रीकल्याण सूरिजी के पाट पर हुए श्रीप्रमोदसूरिजी के शिष्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरिजी महाराज को अन्य गुरु की सानिध्यता–उपसम्पदा प्राप्ति की आवश्यकता नही थी। उनश्री का यह कार्य शास्त्र परम्परा और विधिविहित था।

गुरुदेव के तेजोद्वेषियों ने गुरु नही का विवाद खड़ा किया इसके

पीछे उनकी मलिन बुद्धि ही काम कर रही थी। शासन हितैषी क्रियोद्धारकों की परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र है श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी वास्तव में वे एक जन्मजात युगप्रभावक थे और त्याग तप के द्वारा स्व-पर के हितैषी थे। बिना किसी की मदद के अकेले उन्होंने शिथिलता निवारण के लिये सशक्त अभियान प्रारंभ किया था और उसे पूरा करके भी दिखा दिया।

जब कभी निष्पक्ष और सत्यान्वेशी इतिहास लिखा जायगा, तब बीसवी शताब्दी में शिथिलाचार वर्जन का यश मात्र एक श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी म० को ही मिलेगा।

यह अभियान प्रारम्भ करने के लिये ही आप जावरा पधारे थे। आषाढ़ कृष्णा तीज से श्रीऋषभदेवजी के जिनालय मे अष्टाह्निका महोत्सव प्रारंभ हुआ। दिन पर दिन जाते जा रहे थे। मालवे के ग्राम नगरों के भावुक भक्त जनता सागर का प्रवाह जावरा की ओर प्रवाहित हो रहा। आषाढ़ वदी १० का सूर्योदय हुआ। हजार हजार किरणों से उसने यत्र तत्र सर्वत्र प्रकाश बिखेरा। आबाल वृद्ध सबके मन मे आनंद और उमंग था। संघ, प्रतिष्ठा, दीक्षा और उद्यापनों के जलसे तो देखे पर यह क्रियोद्धार क्या है? क्या होगा? श्रीपूज्यजी क्या करेंगे? इत्यादि प्रश्नों के किसीके पास उत्तर नहीं थे। देते भी क्या? स्वय भी अनभिज्ञ थे। उपाश्रय के समीप जनता की भीड़ तीव्रतर थी। चारों ओर जयनादों का अनुगूँजन था। वातावरण में आनंद का सागर छलका रहा था।

निर्धारित समय पर आठ दिनों से तप ध्यान और अनुप्रेक्षादि में लीन श्रीपूज्य श्रीराजेन्द्रसूरिश्वरज़ी म. सा. यतियों के समुदाय सह श्रीऋषभदेवजी के जिनालय में पधारे। चैत्यवंदना करके जावरा रतलाम खाचरौद मंदसौर आदि के अग्रेसर श्रावक तथा श्रीपूज्यधरणेन्द्रसूरि के नए दफतरी देवसागर, पंन्यार श्रीमोती विजयजो, महेन्द्रविजयजी, रूपसागरजी आदि ५५ यति देख रहे थे। श्रीराजेन्द्रसूरिजी म. का मुख हर्ष और आनंद से प्रफुल्लित हो ओज तेज और संतोष से उद्यिप्त था। उन्होंने मुदित हो ५ नवकार बोले। अपने पास के सब परिग्रह और परिग्रह चिह्न भगवान् के जिनालय के लिये अर्पित किये। त्याग की उस प्रक्रिया को देख कर यतियो और उपासकों की आँखे सजल हो गईं। वजीर हमीरविजयजी ने वह सब परिग्रह श्रावकों को सौपा। भार उतरने पर हलका महसूस करता है अपने को आदमी। तब जो खुशी होती है उससे भी सौगुणा खुशी श्रीपूज्यजी के मुखपर खेल रही थी। जिनालय से बाहर पधारे श्रीपूज्यजी मुनि के योग्य उपकरण अपनी पीठ पर उठाए, उपाश्रय से बाहर आये श्रीपूज्यजी और दो यति-श्रीधनविजयजी और प्रमोदरुचिजी। मालव की जनता ने देखा श्रीपूज्यजी का वह राजसी ठाट पाट, पालखी छत्र आदि सब परिग्रह रहित चलना। सब स्तब्ध थे, वज़ीर हमीरविजयजी ने संकेत किया। हजार-हजार भक्त कंठों से जय नाद गूँजित हो रहे थे। जावरा नवाब अपने लवाजमें और रिसाले सहित साथ थे। जुलूस धीरे-धीरे बढ़ चला। त्याग का आनंद और त्याग का आदर देख कर यतिवृद्ध महेन्द्रविजयजी

की आँखों से आसू आ रहे थे। वातावरण में उमंग आनंद और आदर की मस्ती की मौज थी। जुलूस खाचरोदी दरवाजे के बाहर, भगतजी की वावड़ो के समीप विशाल बड[1] के नीचे, सिंहासन पर पूर्वाभिमुख प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् श्रीऋषभदेवप्रभु की प्रतिमाजी विराजमान थे। जुलूस वहाँ पहुँचा। जिसको जहाँ स्थान मिला बैठ गया। लकड़ी के एक सामान्य पाट पर श्री राजेन्द्रसूरिजी म. बिराजे। श्रीनमस्कार महामत्र का उच्चारण किया। जनता में शान्ति छा गई, निरव हो गया वातावरण। गंभीर और उदात्त स्वर से श्रीपूज्यजी बोले।

शासनपति श्रमण भगवान् ने समस्त जीवों के कल्याण के लिए इस परम पावन धर्मशासन के रथ को गति प्रदान की है। चलता रथ रुक गया था, अतः उनश्रीने उसे व्यवस्थित करके पुनः गतिशील किया था। महाप्रभु के निर्वाण के पश्चात् २१००० वर्षों तक अबाध गति से यह धर्मरथ गतिशील रहेगा। यह बात संदेहों से सर्वथा मुक्त है। अनेक भव्य जीवो ने इस पतित पावन



१—ज्योतिर्विद मुनिराज श्रीजयप्रभविजयजी के प्रयत्न और उपदेश से क्रियोद्धार की इस पुण्य भूमि पर विशाल मनोरम और सुन्दर स्मारक (श्रीमद् राजेन्द्रसूरि जैन दादावाड़ी) का गुरुभक्तो ने निर्माण करवाया है। विशाल सभागृह के बने संगमरमर के गुरुमन्दिर की प्रतिष्ठा श्रीसंघ जावरा कृत महा महोत्सव मे वर्तमानाचार्यश्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म. ने वि स. २०३० मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी दिनांक ३०-११-७३ को की। इस महोत्सव में पन्द्रह हजार से भी अधिक जनता उपस्थित थी।

शासन की शरण ग्रहण करके सुख पाया है। आगे फिर पाएगें। सर्वविरति मार्ग से चलने वाला उपासक साधु कहलाता है। देश विरति मार्ग से चलने वाला उपासक श्रावक कहलाता है। साधु साध्वी-श्रावक और श्राविका ये चारों इस शासन के स्तंभ है। चारों में से एक भी अग का कमजोर होना भय की घोषणा है। तब अव्यवस्था के नगारे वज जाते है। अत. चारों का अपनी अपनी मर्यादा में रहना उचित है। एक की गडबडी शेष को भी गड़बडा सकती है। मुख्य आधार साधु पर है। अत: जैन साधु का अपना आचार-विचार है। जिसका निरूपण श्रीवीतरागप्रभु के प्रवचन पर आधारित है। जैन साधु का लक्ष्य आत्मकल्याण है। आचार, विचार, व्यवहार, वर्तन तथा त्याग की सर्वोच्च सीमा को अपने पैरों से नापता है। आचारादि का गरिमामय पालन जैन साधु का आचार है. जिसका पालन वह प्राणप्रण से करता है। तप, त्याग, ध्यान, चितन और अनुप्रेक्षा के भी यहाँ अपने आयाम है। अपने तप एवं त्याग के बल पर चितन की उस परासीना को पाया है कि जहाँ अन्य किसी का भी प्रवेश सुगम नही।

ह्रासप्रधान काल महात्म्य से कौन अछूता रहा है। प्रकृति का नियम है परिवर्तन। सुखशीलता के प्रसरते हाथों ने सब लोगो को जकड लिये है, तो भला यह त्यागी संघ कैसे इससे बचता कुछ कमजोरियो ने प्रवेश किया। जिसके फलस्वरूप जब भी शासन व्यवस्था और प्रभावना में मन्दता आई। तब उस समय के पूज्यों ने उसके निवारण के लिए आवश्यक पाँव उठाये जिसके

परिणाम अच्छे आये। परन्तु कालप्रभाव जबरदस्त है अतः शिथिलता आई तो पुनः प्रयत्न किये। इस प्रकार एकाधिक प्रयत्न भूतकाल में हुए है। आचार्य श्रीजगच्चद्रसूरिजी, देवभद्र-गणी, श्रीआनंदविमलसूरिजी, श्रीसत्यविजयजी पंयास के नाम स्मरणीय है। आचार्य श्रीवृद्धवादी, श्रीहरिभद्रसूरिजी, क. स. श्रीहेमचन्द्राचार्यजी तथा श्रीजिनवल्लभसूरिजी आदि के कार्य और कलम ने भी शिथिलता निवारण के लिये सशक्त और समर्थ लेखन का कार्य किया है।

स्वनामधन्य आचार्यों ने समय-समय पर क्रियोद्धार करके अथवा समाचारियाँ—बोल और पट्टक आदि प्रचलित करके चारित्राचार की निर्मलता के लिए सक्रीय कार्य किये है। परन्तु पुन आचार शिथिलता ने आज माथा उठाया है। इसके निवारण के लिए प्रयत्न किये गये पर क्षणिक सफलता रही। अतएव इस रोग को निकालने के लिए अब गंभीर सशक्त और भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है। पाच वर्ष पहले मैने राणकपुर मे अभिग्रह लिया था। तदनुसार मैं आज से निर्मल और अदोष चारित्र पालन की प्रतिज्ञा करके अपने कार्य में प्रवृत्त होता हूँ। मुझे मालुम है, मेरा यह मार्ग बाधाओ से पटा है। मुझे पग-पग पर परिषह और कष्ट परेशान करेगे, किन्तु मैं उ हें शान्त भाव से सहूँगा। पचाचार का पालन और प्रचार हमारा उद्देश्य है। हम अपने कार्य में सफल होगे। आत्मविश्वास का संबल हमारे पास है।

आज से मैं शिथिलता और उसके चिह्न—परिग्रह का सर्वथा

त्याग करता हूं। यह सारा परिग्रह हमने श्रीऋषभदेवजी के प्रासाद में समर्पित कर दिया है। जिसका सूचक ताम्रपत्र श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् के जिनालय के गभार-द्वार पर लगाया है। इन उपकरणो पर जावरा के श्रीसघ का अधिकार है। इन पर किसी की व्यक्तिगत मालिकी नही होगी। परिग्रह का त्याग करके मैं हलका-भार रहित हो गया।

श्रीपूज्यजी की बात सुन कर जनता प्रसन्न हो देरतक जयजय-कार करती रही। आसन से श्रीराजेन्द्रसूरिजी म. उठे। प्रसन्न मन से समवसरण को तीन प्रदक्षिण देकर, देववदन किये, शुभ-समय शुभक्षण में हर्षभर हृदय से आपने पाँच महाव्रत पालन की पुनः प्रतिज्ञा की१।

उपस्थित जनता ने हर्षध्वनि से वातावरण को सुखद कर दिया था। तब ही तत्काल श्रीधनविजयजी एव प्रमोदरुचिजी ने आप के पास दीक्षोपसपत् ग्रहण कर क्रियोद्धार किया। इस प्रकार प्रसन्न गुरुदेव ने सानद, सोत्साह क्रियोद्धार विधि समापन की।



१—पूज्य पाद गुरुदेव श्री ने जिस समय क्रियोद्धार की प्रतिज्ञा की थी, उस शुभ समय पर लग्नपत्रिका यति श्रीमहेन्द्रविजयजी ने बनाई थी, वह हमें जैसी मिली वैसी ही यहाँ प्रस्तुत कर रहे।

—क्रियोद्धार पत्रिका—

स्वस्ति श्रीतीर्थनायक जिनवरेन्द्र श्रीवर्धमान प्रणिपत्य। लिख्यते श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर-क्रियोद्धार पत्रिकाम् श्रीविक्रमादित्य राज्यातीत सं. १९२५ वर्षे आषाढ कृष्ण १० शनौ (सोमे) रेवति नक्षत्रे शोभन योगे मिथुन लग्ने क्रियोद्धार समयं शुभम्। ता. १५–६–१८६८।

क्रियोद्धार के दिन श्रीसुपार्श्वनाथजी के जिनालय के गंभारे के द्वार पर जो लेख लगाया था, वह इस प्रकार है।

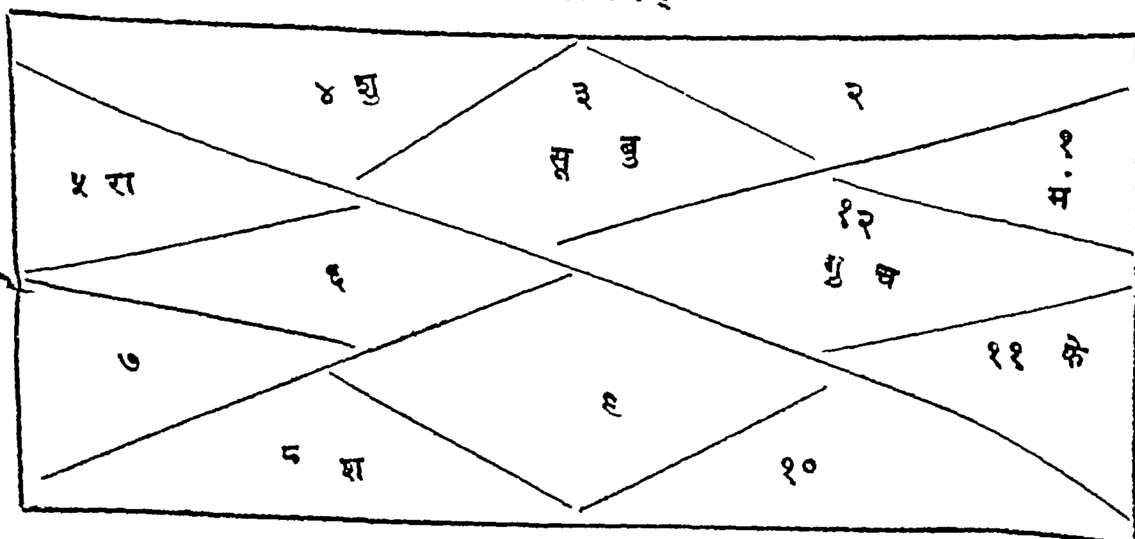
॥ सही ॥

। जावरा नगरे । ६० ॥ श्रीजिनाय नमः ॥ सं. १९२५ व. । आषाढ़ व. १० । भ. श्रीविजयराजेन्द्रसूरिभिः क्रियोद्धारः कृताः । तैः श्रीआदिश्वरप्राशादे एतानि वस्तूनि भगवदर्थेऽर्पितानि । यता- छडी–१, चँवर–२, सूरजमुखी, छत्र–४ सुखासन–५, ए चिजां भेट किनी, श्रीऋषभदेवजीरे, ये वस्तु मांहेसु, जो कोई बेचे, देवे देवावे माँगे, तेहने तथा पत्रा ने उखेले तेहने श्रीचौवीसीजी नी आंण छे । ॥ द० वजीर पं० हमीरविजय ना द० छे, श्रीहजूर आदेशात् शुभम् ॥

क्रियोद्धार क्रिया की सानंद समाप्ति के बाद दोनों शिष्यों सहित आचार्यदेवश्री उपाश्रय पधारे । जावरा की जनता और नवाब



तस्य लग्नमिदम्—



जावरा ने भावभरा स्वागत किया । मार्ग में शुभ शुकुनों का अवलोकन कर वयोवृद्ध यति श्रीमहेन्द्रविजयजी ने यशोज्ज्वल भावी का निरूपण किया । उपाश्रय में पधार कर देशना दी । जयजयकार की ध्वनियों से आकाश गूँजाती जनता अपने-अपने घरों की ओर बढ़ चली । नवाब जावरा, जावरा के अग्रेसरों तथा अन्य ग्राम-नगरों के अग्रेसरो ने चातुर्मास के लिये जोरदार प्रार्थनाएँ की ।

चातुर्मास सन्निकट था, अतएव अब निर्णय होना आवश्यक था । गुरुदेव ने चातुर्मास का लाभ खाचरोद वालों को दिया । आषाढ़ वदि ग्यारस को सुबह गुरुदेव ने दोनो शिष्यो सहित बड़ावदा की ओर विहार किया । जावरा की जनता और यतियों ने एवं भक्तों ने स्नेहभरी विदाई दी ।

बड़ावदा, सरसो, सेमलिया और नामली होकर श्रीगुरुदेव ने रतलाम की ओर विहार किया । हजारो नर-नारियो ने रतलाम नरेश श्रीरणजीतसिंहजी ने शानदार स्वागत किया । किन्तु समयाभाव से रतलाम मे श्रीगुरुदेव एक रात्रि ही रहे । दूसरे दिन खाचरोद की ओर विहार किया ।







सिध्दान्तोपदेश



खाचरोद की जनता ने श्रीगुरुदेव का बड़ा शानदार और भावभरा स्वागत किया। चातुर्मास प्रारंभ हुवा। व्याख्यान, स्वाध्याय, चिंतन, अनुप्रेक्षा और प्रश्नोत्तरों का निश्चित कार्यक्रम चला। प्रातः और दोप्रहर को व्याख्यान और रात को प्रश्नोत्तर चितन का कार्य चला।

आगम पंचांगी तथा अन्य बहुश्रुताचार्यों के निरुपित ग्रन्थों का वांचन मनन करके, साध्वाचार मर्यादा की क्रिया-विधियों में मध्यकाल में आए प्रक्षेपों का संशोधन किया। इस संशोधन में श्रीगुरुदेव ने श्रीजिनेन्द्रप्रवचनानुसारिता को लक्ष्य में रखा। अध्ययन मनन चिंतन प्रश्नोत्तर आदि विचार पुरस्सर प्रक्षेप-प्रमार्जन करके आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे–

१—वदन शब्द स्तुति और नमस्कार दोनों का बोधक है, इसलिए देव देवियों को वंदन करना श्रमणो के लिए

अनुचित है, अकारण उनसे सहायता, प्रार्थना–याचना करना भी अनुचित है। क्योंकि अव्रती, देव-देवियों को वंदन करना आगम विरुद्ध है।

२—चौथी स्तुति में पापोपदेश, धन, पुत्र, आदि पौद्गलिक सुख प्राप्ति की प्रार्थना होने से वह भावानुष्ठान सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में त्याज्य है। अत: उनमें चौथी स्तुति करने से जिनाज्ञाभगरूप दोष लगता है।

३—जैनागम पंचागी के अनुसार तीन स्तुति प्राचीन हैं, और प्राचीन काल में शुद्धाचरण से तीन स्तुति प्रचलित थी, इसलिए तीन स्तुति करना उचित है। पूजादि रोगादि कारणो की उपस्थिति में आगमोक्त न होने पर भी गीनार्थाचरण से चौथी स्तुति करना हानिकर नहीं, परन्तु भावानुष्ठान में नही करना चाहिये।

४—चैत्यवंदन के बाद शक्रस्तवादि प्रणिधान पाठ और स्तुतित्रय कही जायँ अर्थात् चैत्यवंदन कहने के बाद शक्रस्तवादि प्रसिद्ध पांच दंडक तीन स्तुतियाँ और प्रणिधान पाठ कहे जायँ तब तक जिनालयो मे ठहरना चाहिए। किसी कार्य विशेप के लिए अधिक ठहरना पड़े तो अनुचित नही है।

५—शास्त्र-मर्यादानुसार प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरों के शासन के साधु-साध्वियो को यथाप्राप्त श्वेत, मानोपेत, जीर्णप्राय और अल्पमूल्य वस्त्र ही रखना चाहिये। रगीन वस्त्र या रंगे हुए वस्त्र रखना अनुचित है। विशेप परिस्थिति में

कल्कादि पदार्थों से वस्त्रों का वर्ण परावर्त करने की आज्ञा है, तथापि वर्तमान युग में ऐसे कोई कारण उपस्थित नहीं है, अतः जैन साधु साध्वियों के लिये रंजित वस्त्र धारण शास्त्र–आचरण और मर्यादा से विपरीत है[१]।

६—प्रतिक्रमण में श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता और भुवनदेवता का कार्योत्सर्ग और स्तुति, लघुशान्ति, बड़ी शांति का पाठ विधान जिनागम-पंचांगी और प्राचीनाचार्यप्रणीत प्रामाणिक ग्रन्थों में नही है। अतः प्रतिक्रमण में इनका करना और कहना अशास्त्रीय और दोषपूर्ण है। किन्तु साधु साध्वी के लिये पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "दुक्खक्खय कम्मक्खय" के कायोत्सर्ग के बाद आज्ञा-निमित्तक भुवनक्षेत्र देवता का कायोत्सर्ग अदोष है।

७—ऋद्धिसम्पन्न और ऋद्धिरहित दोनों प्रकार के श्रावकों को सामायिका दंडकोच्चार के बाद ईरियावही करने का शास्त्रों का आदेश है। क्योंकि इसके लिए "तिविहेण साहुणो नमिऊण सामायियं करेइ करेमि भते ? एवमाइ उच्चरिऊण ईरियावहियाए पडिक्कमइ" इत्यादि आगम-टीका-ग्रन्थों का वचन प्रमाण है। अतएव प्रथम त्रियोग से गुरुवदन करके सामायिक उच्चार के बाद ईरियावही प्रतिक्रमण करना चाहिये।

१—वस्त्रो के रग और रंगीन वस्त्र धारण साधु साध्वियों के लिये अनुचित है इस की विषेश स प्रमाण विचारण के लिये "पीनपटाग्रह मिमांसा" नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

९—श्रीजिनेश्वरों की प्रतिमा और उनकी पूजनविधि मूल सूत्रों व उनके टीका भाष्य, निर्युक्ति चूर्णी-टब्बाओं में कई स्थलों पर प्रतिपादित है। इसलिए ज़िनप्रतिमा का तद्वत्, भक्ति-भाव सहित पूजन दर्शन आदि करना आत्महितकर है[१]।

आवश्यकता

भारत का मध्यकाल का इतिहास संग्रामों, सत्ता परिवर्तनों राज-परिवर्तनों, धर्म जाति और लिप्सा द्वेष की आपाधापी से भरा है। थोड़ी-थोड़ी बातो पर युद्धों के नक्कारे बज रहे है, तो वाद ने विवादों का जामा पहिन लिया था। धार्मिक, सामाजिक और राजकीयवातावरण विचित्रऔर अस्थिरताओ से गुजरा है। परिस्यितियो ने प्रत्येक पर हमला किया था। तब धर्मशासन भी चैत्यवासी-यतियो शिथिलों के चंगुल में फँसे बिना नहीं रह सका। मध्यकाल के यतियों-शिथिलों के प्राबल्य ने जैन आचार की सनातन प्रणालिकाओ मे भी घुसपेठ करदी। जिसके कारण क्रिया विधियो में अनेक न्यूनाधिकताएं आ गई। जिसके फल-स्वरूप कही-कही तो क्रिया के मूल पर ही कुठाराघात हो गया। जैन विचार-धारा से विपरीत भी हो गया। परिस्थितियों का दौर शिथिलो के हाथो में था। उनका सामना करने वाला, उन्हें आचार विपरीत वर्तन नही करने का सकेत मात्र भी करने



१—श्रीकल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनीगत जीवन पृ ९-१०, श्रीराजेन्द्रगुणमजरी पृ. ४०-४७ श्रीमद्राजेन्द्रसूरि पृ. ४६ से ४९

वाला ऐसा सताया जाता कि घबरा कर वह मैदान छोड़ कर भाग जाता। कुछ जमे भी रहे।

कष्टों, संतापों और यातनाओं की बर्बरता का संकष्ट पू. पा. गुरुदेव ने सहन किया। यतियों के मनसूबे आखिर नाकाम हो गये। गुरुदेव नहीं डरे। उन्हें तो मात्र जैनाचार की पवित्रता ने मोह लिया था। अतः सब कुछ सहकर भी वे शुद्ध जैनाचार प्रचार में लग गये।

वि. सं. १९२५ में क्रियोद्धार करते ही गुरुदेवश्री ने खाचरोद के वर्षावास में पुनश्च आगमों का सटीक स्वाध्याय किया। आगमेतर ग्रन्थों का भी स्वाध्याय किया। जिसके फलस्वरूप चारित्राचार में आये प्रक्षेपों को निकालने के विचार स्थिर हुए। आगे के प्रकरण में जो "नौ नियम" आये हैं। वे पहले के वर्षावासों में किये गये स्वाध्याय का तथा क्रियोद्धार के पहले अध्ययन अध्यापन के समय की अनुप्रेक्षा का फल है। वे शुद्ध साध्वाचार पालन और प्रचार की लगन और तमन्ना का प्रमाण है ये "नव नियम"। इन्हीं नव नियमों का विस्तार "गच्छीय आचार प्रकरण" है। जहाँ पर गुरुदेवश्री ने विस्तार से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं के परस्पर व्यवहार का ग्यारह प्रकरणों में बोल पद्धत्ति से निरूपण किया है। ग्रन्थ मालवी मारवाड़ी में है। वि. सं. १९३५ में गुरुदेवश्री के हाथों से ही लिखी यह प्रति हमारे संग्रह में है। संस्कृत में भी यह ग्रन्थ है।

जैन साधु और श्रावक के आचार विचार का लक्ष्य कर्मों की निर्जरा है। सामायिक पौषध प्रतिक्रमण, देश विरती और सर्व-

विरति का लक्ष्य देहिक: इहलौकिक, पारलौकिक अथवा किसी भी प्रकार की भौतिक कामनाओं की संपूर्ति का नहीं है। क्यों कि इन की संपूर्ति के लिये किया गया कोई भी उपासना-विधान कर्मबंधक होने से सदोष होता है[१]।

सिद्धान्तोपदेश के इन नौ नियमो का प्रचलन करके गुरुदेव ने मध्यकाल में आये विधिप्रक्षेपों का समार्जन किया है। इस समार्जन काम के समय आपने प्रवचन सापेक्षता, कर्म विवेचना और अनैकान्त सिद्धान्त तथा विवेक को सामने रखा है।

मध्यकाल में हुए अनेक प्रभावक आचार्यवर्यों ने जब आवश्यकता हुई तब देश, काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्रवचन साक्षेप निरूपण किया है। श्रीआचारांग सूत्र, श्रीउत्तराध्ययन सूत्र, श्रीमहानिशीथ सूत्र, श्रीनिशीथ सूत्र, श्रीबृहत्कल्प सूत्र, श्रीव्यवहार सूत्र, श्रीदशवैकालिक सूत्र आदि सूत्रों का तलस्पर्शी अध्ययन करने से यह पता लगता है



१—अपच्छिम मारंतिय सलेहणा झूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा इहलोगा संसप्पओगे, परलोगा संसप्पओगे, जीविया संसप्पओगे, मरणा संसप्पओगे, कामभोगा ससप्पओगे,

—श्री उपासक दशांग सूत्र

(अ) जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि,

—श्री तत्वार्थाधिगम सूत्र ७।३७,

(ब) श्री आवश्यक सूत्र हरिभद्रीय टीका पृ. ८३८।१

(स) इहलोए परलोए जीविय मरणे अ आससपओगे ॥
पंचविहो अइयारो, मा मज्झ हुज्ज मरणं ते ॥ ३३ ॥

श्री वंदित्त सूत्र गाथा ३३,

कि बदलती परिस्थितियों में आचार मार्ग की सुरक्षा को ध्यान में रखकर, परिस्थितियों के साथ तालमेल रखा गया है। तालमेल बैठाते हुए नियमों उपनियमों में ऊपरी फेरफार करना पड़ा तो उसके लिये प्रवचन सापेक्ष नियमोपनियमो का निर्माण किया गया जो आवश्यक और उचित रहा है।

मध्यकाल में भी अनेक आचार्यों ने तत्कालीन सामयिक आवश्यकताओं और श्रमणसंघ की व्यवस्था, पवित्रता चारित्रिक प्रोज्ज्वलता की रक्षा के लिये बोल-पट्टक, समाचारी, संघपट्टक या मर्यादापट्टक आदि नामों से मर्यादाओं का प्रवर्तन किया है—

१– श्रीमद् सोमसुन्दरसूरिजी ने वि सं. को १५ वी शताब्दि के मध्य में "सविज्ञ साधु योग्यकुलक" बनाया।

२– श्रीमद् हीरविजयसूरिजी ने वि. सं. १६४६ के पौष वदि १३ शुक्रवार को पाटन में "साधुमर्यादा पट्टक" बनाया।

३– श्रीमद् विजयदेवसूरिजी म. ने वि. सं १६७७ के वैशाख सुदि ७ बुधवार को "मर्यादा पट्टक" बनाया।

४– श्रीमद्सिंहसूरिकृत "मर्यादा पट्टक" वि. सं. १७११ के माघ सुदि १३ गुरुवार को बना।

इन बोल मर्यादा के अलावा भट्टारक श्री आनन्दविमलसूरिजी, म. श्रीविजयदानसूरिजी, म. श्री सेनसूरिजी ने भी मर्यादापट्टक बनाये थे। ह्रास प्रधान काल का प्रभाव देखिये कि आनदविमल सूरिजी से लेकर श्रीविजयसिंहसूरिजी तक के पट्टपरम्परा के लगातार छ. पट्टधरों ने मर्यादाओ का प्रचलन किया। अन्य

परन्तु उसे कार्य में परिणत करते हुए हठ और दृष्टिराग होगया, जिसका परिणाम सिद्धान्त से विपरीत आचरणा में आगया। स्तुति परक विचारणा पर किसी प्रकार का विमर्श करने से पहले स्तोतव्य की मीमांसा को हृदयंगम किया जाता तो विवाद ही पैदा नहीं होता। किन्तु परम्परा का व्यामोह बड़ा जबरदस्त है।

स्तुति किसकी

अपने आत्मीय बल पुरुषार्थ और पराक्रम से उत्क्रान्ति करते करते जिस आत्मा ने राग द्वेष की ग्रन्थी को छेद करके, सम्यग्दर्शन की आत्यन्तिक निर्मलता कर शुभ को बलवतर किया है, वह आत्मा कर्मों के आवरण का उच्छेद कर अकर्मस्थिति-सर्वज्ञत्व का निरवधि आनंद पाती है। उसे आत्मा, परमात्मा, भगवान्, वीतराग और अरिहंत आदि नाम से जाना जाता है। अन्य सब देवों में किसी न किसी प्रकार का दोष नजर आयगा। किन्तु वीतराग समस्त दोषों से परे हैं[1]। वे सत्य के प्रवक्ता और सन्मार्ग के द्रष्टा है। वास्तव मे वीतराग सर्वगुण सम्पन्न है। अतएव वे उपास्य और स्तुति के योग्य है। अतः वीतराग प्रभु की स्तुति करना, उपासना करना योग्य समीचीन और हितावह है। इसलिये कि वे सब दोषो से रहित आप्त[3] है।



१—हिंसाइ तिग कीला हासाइ पचग चउकसाया ॥
मय मच्छर अन्नाणा, निद्दा दिम्म इय व दोसा ॥

२—स्तुति स्तोत्राण्याप्यानामेव

३—अभिधेय वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त ॥
— प्रमाणनय तत्वालोक ।४।४,

(अ) यथास्थितार्थ परिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः ॥ — जैन तर्क भाषा।

(ब) यथार्थदर्शन. निर्मूलक्रोधाद्यगमादिगुणयुक्तश्च पुरुष. इहाप्त. ॥
—श्री धर्मसंग्रहणी वृत्ति – मलयगिरीजी।

उसमें उसके पूराकृत कर्मों का फल होता है। जिसे कौन दूर कर सकता है? वीतराग की स्तुति और उपासना से हमारे विचार निर्मल होते है, जो हमें कर्ममुक्ति देते है। संबोधी, समाधि का लाभ होता है। किन्तु यह बात निश्चित है कि सब जीव अपने अपने किये का फल भोगते है। जिसमें कोई भागी नही होता[1]। सराग स्तुति के साथ सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन, अनुष्ठान और कर्म सिद्धान्त का मेल नहीं बैठता। चैत्यवंदन, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि भावानुष्ठान है। अतः भावानुष्ठानों में सरागी की स्तुति अप्रमाण और अनुचित है। तब ही प्रथम नियम से गुरुदेवश्री ने इसका निषेध किया है।

श्रीगुरुदेव के इस समार्जन कार्य को कुछएक विद्वान् मुनिवरों और शास्त्रज्ञों ने नहीं और इसके हार्द को भी नही समझा अथवा समझने का प्रयास नही किया, और कह बैठे "स्तुतित्रय का सिद्धान्त श्रीराजेन्द्रसूरिजी ने नया बनाया है।" यह आरोप लगा तो दिया, परन्तु किसी पर आरोप लगा देना सहज है। किन्तु सिद्ध करने के लिये इधर उधर झाँकना पडता है। यदि आरोप लगाने के पहले जैनत्व और सम्यग्दर्शन एवं सामायिक के आइने में देख लिया जाता तो आरोप लगाया ही नहीं जाता।



१ — संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जंच करेइ कम्मं॥

कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, ण बंधवा बंधवयं उवेति॥

— उत्त. ४।४।

है[1]। चैत्यवंदन[2] जिन प्रतिमा के समक्ष चैत्यवंदन किया जाता है। मन, वचन और काया को अकुशल मार्ग से हटा कर कुशल मार्ग में लगाने के लिये और अध्यवसायों को अमल और विशुद्ध करने के लिये राग द्वेष पापस्थान और कषायों के बल का प्रणाश करने को और शुभ भावों के वर्धन के लिये चैत्यवदन किया जाता है। जिसका फल कर्म-क्षय और कल्याण प्राप्ति है[3]। जिन चैत्यों में, आवश्यक क्रिया के प्रारंभ में, तथा व्रत विधियों में, जिन प्रतिमा के समक्ष, गुरुस्थापना के समक्ष किसी भी स्थान पर कार्य विशेष के अवसर पर जिन बिम्ब की परिकल्पना करके भी चैत्य-वंदन होता है[4]।

जहाँ कहीं भी स्थित भक्त चैत्यवंदन करता है, वह चैत्यवंदन सदोष नही होना चाहिये, किन्तु निर्दोष होना चाहिये। किसी



१—चेइय सद्दो रूढो, जिणिंद – पडिमत्ति अत्थओ विट्ठो

—संबोध प्रकरण

२—जिण चेइयाण पुरओ, कीरइ चिइइवंदणा तेण ॥१२॥

—चेइयवंदण महाभास

३—चैत्यवन्दनत: सम्यक्, शुभो भाव: प्रजायते ॥
तस्मात् कर्मक्षय सर्वं, तत. कल्याणमश्नुते ॥ ललित विस्तरा,

४—जिणबिम्बाभावे पुण, ठवणा गुरुसक्खिया वि कीरति ॥
चिइ वंदण च्चिय इमा, नायव्वा निउणबुद्धिहिं ॥१३॥
अहवा जत्थ वितत्थ वि पुरओ परिकप्पिऊण जिणबिंब ॥
किरइ बुहेहिं एसा, नेया चिइवंदणा तम्हा ॥१४॥

—चेइयवंदण महाभास।

"ततो विधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणमासादयति उक्तं च—

धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान्भवेत् ।
रौद्रदुःखौघजनको, दुष्प्रयुक्तदिवौषधाद् ॥

विधि से करने वालो को कल्याण मिलता है, उसी प्रकार अविधि से आराधना करने वाला बड़े दुःख उपद्रव पाता है। कहा है कि धर्मानुष्ठान का वितथ आराधना रौद्र दुःखजनक और बड़े अमंगल का देने वाला होता है। अपथ्य से जिस प्रकार औषध लाभ के बजाय हानि देता है, वैसे ही अविधि आराधना अमंगल देती है।

यह है चैत्यवंदनादि क्रियाओं को विधि अविधि से करने के परिणाम। चौथी स्तुति आशंसा दोष वाली होने से अदोष नहीं है। आशसा चैत्यवदन में दोष पैदा करती है, अत. यह आचरण सदोष है। आत्मवंचना भी दीख रही है! उपास्य के समक्ष हम अविधि से कार्य करते है, तब यह उनकी आशातना नही है? सत्य बात यह है कि चैत्यवंदना की भावना के साथ चौथी स्तुति का मेल बैठता नही है। यह अन्यथा प्रवृत्ति है।

सामायिक—

यदि हमको अपना आत्महित प्रिय है? यदि हमे आत्मधर्म के अवरोधकों से मुक्त होना है? यदि हमने पुद्गल प्रपंच की भयावहता को समझ लिया है? कषायो और रागद्वेष के कटु परिणाम हमें रुचिकर नही है? तब हमारे जीवन के प्रत्येक कंपन में सामायिक का स्वर झंकृत होना चाहिये। सामायिक

रागद्वेष से रहित माध्यस्थभावापन्न आत्मा सम कहलाती है; उस समय में गमन करना ही भाव सामायिक है[१]। यह है सामायिक का मतलब। सामायिक समभाव की साधिका है। कोई भी साधना सामायिक रहित है तो वह साधना कभी भी कर्मनिर्जरा की हेतु नहीं हो सकती। सामायिक के भाव में जो काल निर्गम होता है, वह सफल है, शेष समय संसार फल का हेतु है[२]।

स्तुति या तो चैत्यवंदन में या प्रतिक्रमण के प्रारंभ में देववन्दन में आती है। प्रतिक्रमण क्रिया सर्व प्रथम सामायिक लेकर की जाती है। प्रतिक्रमण के अवसर पर यदि चौथी स्तुति जो सरागी-देव की है, वह यदि सामायिक में की जाती है तो सामायिक भंग होगी। रागद्वेष और कषाय जन्य प्रवृत्तियाँ सामायिक में कभी भी उचित नही है। चौथी स्तुति में राग द्वेष और कषाय ममता का अंश अवश्य होता है, जिनके होने पर सामायिक हो नहीं सकती। जब सामायिक ही नहीं है, तो शेष पाँचों आवश्यक संभव कहाँ ? "ग्रामं नास्ति कुतः सीमा" अतः यह स्वतः सिद्ध है



१—"सममेकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः। अथवा सम् समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्"।

—गोमटसार जीव० टीका गथा ३६८

२—सामाइय – पोसह सठियस्स जीवस्स जाइ जो कालो ॥
सो सफलो बोव्वो, सेसो ससारफल – हेऊ ॥

कार्यरूप में लेने के लिये जैनधर्म ने प्रतिक्रमण[१] क्रिया प्रस्तुत की है। प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए आवश्यक सूत्र की टीका में कहा गया है—प्रमादादिवश शुभयोग से गिर कर अशुभयोग में जाने के बाद पुनः शुभयोग प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है, और समता, क्षमा, नम्रता, दया आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्षका मार्ग है। क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में गया साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण है। अशुभयोग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर प्रत्येक शुद्धयोग में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण[२]। गोमटसार के अनुसार भी "प्रमाद के द्वारा किये गये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जावे उसको प्रतिक्रमण कहते है[३]।

२—जैन धर्म के समान इतर धर्मों में भी प्रतिक्रमण जैसी क्रिया पाई जाती है बौद्धों मे— पापदेशना, वैदिक धर्म में—अघमर्षण, जरथुष्ट्र में—पतेत पशेमानी, ख्रिस्ति में इकरार, और इस्लाम मे तोबाह् की विधियां है।

१—स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः ॥
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१॥
क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वश गतः ॥
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥२॥
प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।
निशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥३॥

—आवश्यक टीका पृ. ५५०,

२—प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्

—गोमटसार

उच्छेदक क्रिया को "अनुष्ठान" कहते हैं। अनुष्ठान-क्रिया उसी प्रकार सफल है कि कतकफल के चूर्ण से जल स्वच्छ हो जाता है[२]। अच्छा बीज, अच्छी भूमि में गिरकर अच्छा फलता है, उसी प्रकार शुद्ध अनुष्ठानवती क्रिया कर्ता के लिये प्रभूत[३] पुण्योदय दाता होती है, अपनी स्थिति महत्ता और आवश्यकता को नजर अंदाज करके क्रिया-अनुष्ठान की पराशक्ति को भूल कर हम सांसारिक चाहनाओं और पौद्गलिक चाहनाओं के मोह में आसक्त हो जाते हैं तो क्रिया की पराशक्ति हीनबला हो जाती है, यथेष्ट और अभिष्ट फल की आकांक्षाओं पर चाहनाओं के पत्थर गिर जाते हैं। तब सफल क्रिया विफल हो जाती है। अनुभवी महा-पुरुष तब हमारी उर क्रिया को विष, गर और अननु कहते है। ये तीनों कर्मवर्धक है। तद्हेतु और अमृत अनुष्ठान सफल है।

ऐहिक-मान पूजा[४], कीर्ति प्रशंसादि लाभ—फल की वांछा रखकर किया गया क्रियानुष्ठान विषानुष्ठान है। तीव्र जहर खाने से जिस प्रकार तत्क्षण प्राणान्त होता है, उसी प्रकार क्रिया में



१—फलवद्द्रुमसद्बीज – प्ररोह सदृशं तथा,
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं, सानुबंधं महर्षिभिः ॥ अ. रा. प्र. भा. पृ. ३७६

२—परिशुद्धमनुष्ठान, जायते समतान्वयात् ॥
कतकक्षोदसंक्राते, कलुषं सलिल यथा ॥१॥ अध्यात्मसार ॥

३—सदनुष्ठानमतः खलु, बीजन्यासात् प्रशान्तवाहितया ॥
संजयते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ अ. रा. प्र. पृ. ३७७

४—विषं लब्ध्याद्यपेक्षात्, इदं सच्चित्तमारणात् ।
महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं, लघुत्वापादनात्तथा ॥ योग बिन्दु ॥

प्रत्येक क्रियानुष्ठान१ के आसेवन के समय निष्कारणबन्धु भगवान् वीतराग का कल्याणकर स्मरण करके, विशुद्ध एवं अभिवर्धित भावों से संवेग रंग की वृद्धि के साथ अत्युत्कट आनंदानुभव के साथ तल्लीन तल्लेश्य और तन्मय हो जाने से यथेष्ट और अभिष्ट फल तत्काल प्राप्त होता है, वह अमृतानुष्ठान है।

इन पाचों अनुष्ठानों२ में प्रथम के तीन अप्रशस्त हैं। शेष दो में चौथा अच्छा है और पांचवाँ सर्वश्रेष्ठ और उपादेय है।

क्रियानुष्ठानों के इस विवेचन के प्रकाश में देखे कि चैत्यवंदन या आवश्यक क्रिया में हम चौथी स्तुति करें तो क्या हमारा वह क्रियानुष्ठान तद्धेतु और अमृत होने से पहले विष, गर या अननु नहीं हो जाता ? भवछेद के बदले भववर्धन का प्रयास नहीं हो जाता ? चौथी स्तुति करना ही चाहिये, इस बात को पकड़े बैठों को आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी का योगबिन्दु और यशोविजयजी का अध्यात्मसार बाँचना चाहिये। अनुष्ठानोंके इस तटस्थ विचार के सामने चौथी स्तुति का समर्थक पक्ष कमजोर और हतप्रभ हो गया है।

कर्म

अनंतबली आत्मा अपने अनन्त चतुष्टय की प्रोज्ज्वलता के लिए



१—जिनोदित मिति त्वाहु–भविसारमदः पुनः। सवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनि पुंगवाः॥
॥ योग बिन्दु ॥

२—पांचों अनुष्ठानों के विशद् विवेचन के लिये उपाध्याय श्रीयशोविजयजी म. रचित आध्यात्मसार का दसवाँ सदनुष्ठानाधिकार देखना चाहिये।

मनुष्य के शरीर पर तैल चुपड़ा हुआ हो तो उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है। वैसे ही रागद्वेष से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म रज का बंध हो जाता है।

कर्मों का बंध होता है। समय आने पर वे उदय में आते हैं, तब उनका फल नाना प्रकार से मिलता है। कृत कर्मों का भोग किये बिना आत्मा का छुटकारा नही होता[1]। सुन्दर-असुन्दर, राजा-रंक, साधारण–असाधारण मूर्ख-बुद्धिमान, निर्धन-धनवान ये सब कृत कर्मों के फल है। ये कर्म एव उनके फल है। कर्म से मुक्त होने के लिये आत्मा प्रयत्नशील है, परन्तु हो नही रही है। क्या आत्मा अकर्म नही हो सकती ? हो सकती है। संभव है उसने कम मुक्ति के लिये जो रास्ता लिया है, वह ठीक नहीं है। साधक, साधन और साध्य सब प्रबल होंगे तब सिद्धि होगो। साधक सम्यग्दृष्टि है, साधन संयम तपादि है साध्य वीतरागता है। तब सिद्धि क्यों नही मिलती ? हो सकता है तप सयमादि का प्रयोग करने में प्रयोक्ता चूक रहा होगा ! तब सफलता नहीं मिलेगी। तप संयमादि सब क्रियाएँ संवर क्रियाएँ हैं कर्मछेद के लिये इनका प्रयोग करते समय किसी तरह की आशंसा नहीं होना चाहिये। दशाश्रुतस्कंध सूत्र की आज्ञा है इहलोक परलोक में अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति की कामना रख कर किया गया तप निदान में शुमार है। जो साधना में शल्य रूप है[2]।



१—कड़ाण कम्माण न मोक्ख अत्थि, – उत्तरा० ४।३,

२—दशाश्रुतस्कध सूत्र अ० १० निदान वर्णन,

उत्तरोत्तर गुणस्थान शुद्ध हैं। गुणस्थानों में आरोहण अवरोहण में जीव की प्रमत्ताप्रमत्तता कारण है। चारों गति, चौरासीलाख योनियों में रहने वाले समस्त जीवों में गुणस्थानों की प्राप्ति इस प्रकार है—

सुरनारएसु चत्ता–रि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे ॥
इगि विगलेसु जुयलं, सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥२८॥

देवता और नरक में पहले चार गुणस्थान, तिर्यंच में पहले पाँच गुणस्थान, मनुष्य में चौदह गुणस्थान और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में पहला दूसरा दो गुणस्थान और पचेंद्रियों में सब गुणस्थान सम्भव है।

सामायिकादि व्रत करने वाले आराधक अपने व्रत की सीमा के भेद से देशविरत और सर्वविरत होते है। देशविरत पाँचवे गुणस्थान मे और सर्वविरति छट्ठे गुणस्थान में होते है। पाँचवे गुणस्थान का नाम देशविरति गुणस्थान तथा छट्ठे गुणस्थान का नाम सर्वविरति गुणस्थान है। देवता चौथे गुणस्थान में है। चौथा गुणस्थान अविरति सम्यग्दृष्टि है। देवता अविरत है। श्रावक (देशविरति) देशविरत और साधु सर्वविरत है। गुणस्थानों की अपेक्षा देवताओं से देशविरत और सर्वविरत आगे है। दोनो ने आत्मीय विकास की दृष्टि से देवता को पीछे छोड़ दिया है। चौथे गुणस्थान वालो से वे दोनो उन्नत है।

सामायिक में स्थित देशविरत श्रावक और साधु जैसा है। साधु छट्ठे गुणस्थान में है। ये दोनों देवता की स्तुति करते है, यह

के धरातल पर उपासक को खड़ा किया है। स्वावलम्बन का मूल सूत्र है नवकार मंत्र। यहाँ आत्मगुणों को नमस्कार किया गया है न कि किसी व्यक्ति विशेष को। यह स्वावलम्बन की सफलता का डिण्डिम् नाद है। स्वावलम्बी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अवरोधक-कर्म को ध्वस्त करके आत्मानंद की खुशहाली को पाता है। परावलम्बी कातर वृत्ति हो जाता है। वह कदापि ध्येय सिद्धि को पासकेगा ! यह प्रश्न रहता ही है। तब ही कहा है—

"आप बले बलवंत कहावे, पर-बल नित्य अधूरा रे"

परावलम्बन में भीरुता की गन्ध है, दीनता का आक्रन्दन है। आदर्श की खण्ड–खण्ड हुई प्रतिमा के भग्नावशेष है। वास्तव में सत्य बात तो यह है कि आत्मावलम्बी व्यक्ति अपने सामने खड़ी प्राणघातक विडम्बनाओ और हजार–हजार प्रतिकूलताओं को देखकर नही घबराता। विघ्नो और विपरीत संयोगों मे से भी वह हँसता – मुस्कुराता अपना रास्ता बना लेता है।

अन्तिम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् श्रीमहावीरदेव दीक्षा ग्रहण के बाद कुमार ग्राम के परिसर में कायोत्सर्ग में लीन थे। ग्वाले के उपसर्ग के समय पहले देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्र ने भगवान् से प्रार्थना की—

भगवन् ! आपके इस साधना काल में उपसर्ग बहुत है, अतः मैं बारह वर्षों तक आपके पास रहूँ ? तब भगवान् बोले–देवेन्द्र ! भूतकाल में यह बात हुई नहीं और न ही भविष्य में होगी कि तीर्थङ्कर किसी देवेन्द्र अथवा असुरेन्द्र की सहायता से केवलज्ञान

आशा और कषाय—

कोई भी साधना अदोष होगी तब शीघ्र फलवती होगी। कषाय, माया, ममता, आशा और तृष्णा हमारी किसी साधना और किसी भी व्यापार को चौपट करने वाले जहरीले तत्व हैं। इन जहरीले तत्वों का प्रणाश किये बिना हमारा उत्थान संभव नहीं है। हमारे सारे प्रयत्न निष्फल और बौने हैं। क्या अंधों का मार्ग निष्कंटक है ? श्रीयशोविजयजी ने कहा है—

विषयैः किं परित्यक्तैर्जागर्ति ममता यदि ॥
त्यागात्कंचुक मात्रस्य, भुजंगो न निर्विषः ॥२॥

विषयों को छोड़ने पर क्या फायदा होगा ? जब विषयों के प्रति आसक्ति हृदय मे बैठी है। क्या कंचुकी छोड़ने मात्र से सांप निर्विष होगया ? नही।

ममता के होने पर आशा और कषाय होगे ही। आशा और कषायों की आँधी में आत्मसुख किधर तिरोहित हो जाता है सो पता ही नही लगता ! कहा गयाहै—हे धीर ! आशा-तृष्णा और स्वच्छदता का त्याग कर तू स्वयं ही इन काँटों को मन में रख कर दुखी हो रहा है[१]।

जिसने आशा और कषायों का निग्रह नहीं किया वह बालतपस्वी है, उसके सब अनुष्ठान कायकष्ट और गज स्नान के समान व्यर्थ है[२] साँठे के फूल और पलाश के फूल जैसे निरर्थक है वैसे ही आशा



१—आस च छन्दं च विगिंच धीरे, तुमं चेव सल्लमाहट्टु ॥

—आचारांग सूत्र १-२-४

कर्माश्रव के हेतु भी हो जाते हैं।"३

पवित्र विचार, और पवित्र व्यवहार जीवन वृक्ष के सुमधुर फल है। अपवित्र विचारों को पवित्र आचरण का परिधान पहना कर चलने से कभी भी फायदा होने की गुंजाइश नही है। अतः हर जीव को कुत्सित विचारों को छोड़ देना चाहिये। कुत्सित विचार हमारे जीवन के उन्नायक तत्वों को नष्ट कर सकते है। कहा गया है–

तालीम का शोर इतना, तहजीब का गुल इतना॥
बरकत जो नहीं होती, नीयत की खराबी है॥

अतएव हर मनुष्य को अपने भावना–मनोरथ निर्मल रखना चाहिये। जिससे राग-द्वेषादि कुत्सितो के कारण होने वाले अन्त जंल्प कर्माश्रव न करें। चैत्यवंदन, सामायिक, प्रतिक्रमण इत्यादि सब क्रियाएँ कर्ता की भावधारा के बलाबल पर सफल और निष्फल होते है। "शुभध्यान हि परम पुरुषार्थ निबंधनम्" शुभ ध्यान परमपुरुषार्थ–मोक्ष का हेतु है। हमारे मनोरथ निर्मल है, तब आर्तरौद्र के पाशविक-ताण्डव नही हो सकते। निर्मल मनो-रथ तो धर्मध्यान के निमित्त हैं।



२—जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवचरंतस्स॥
सो बाल तवस्सी वि व गयण्हाण परिस्समं कुणई॥

—दशवै नि० ३००

३—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।

—आचारांग सूत्र।४।२

प्रयास किये, पर निर्भय कामदेव अपने विचारों में मग्न थे। देवने अनुकुल उपसर्ग भी किये परन्तु कामदेव अक्लान्त हो पौषहव्रत में रहे। आखिर कारगर नही हुआ देवता देवलोक चला गया।

प्रात: काल कामदेव भगवान् के पास गये। वंदना करके भगवान् का प्रवचन सुना। भगवान् ने कामदेव से पुछा—कामदेव ! आज रात्रि में एक देवने अनेक रूप बनाकर तुम्हे धर्म पतित करने के अनेक प्रयत्न किये थे, तुम उस समय में निर्भय और अचल रहे, देव परास्त हो देवलोक गया यह बात ठीक है न ? विनयावनत् कामदेव बोले हाँ प्रभु ! तब श्रमण भगवान् ने श्रमणों और श्रमणियों को कहा—आर्यो ? गृहस्थ में रह कर श्रमणोपासक देव मनुष्य और तिर्यचों के अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों को धैर्य रख कर सहन करते है, तब श्रमण और श्रमणिगण को तो उपसर्गों के समय पीछे कदम नही रखना चाहिये। भगवान् की वाणी सुन कर सब प्रसन्न और विनयावनत थे।

कामदेव के समान ही अर्हन्नक श्रावक का वर्णन ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र में आता है। और भी अनेक उदाहरण है। उपसर्गों के समय निडर निर्भय और अदीनमन रहना प्रत्येक उपासक का शील है। उपसर्गो से घबराकर याचना के स्वर में विचारना भी उचित नही है तो कहना बोलना भी उपयुक्त नही है।

कामदेवादि के ये आख्यान याचना के निषेधक है तब अब चौथी स्तुति जो सराग देवो की है, वह हम जिनालय में या आव-

तो मतलब यह हुआ कि ज्ञान दर्शन आदि आत्मगुणों का किसी तरह अवज्ञा-अनादर हुआ कि आशातना-दोष हो गये। जो कटु परिणाम और भवान्त के प्रतिरोधी है।

सामायिक का भाव, समता है,
प्रतिक्रमण का भाव, पापों दोषों से मुक्ति,
चैत्यवंदना का भाव, कर्मक्षय,
पौषध का भाव, धर्म की पुष्टि है,

इन कर्तव्यों और ऐसे ही अन्य कर्मक्षय के कारण कर्तव्यों में विपरीताचरण होने से, या करने से कर्ता को कर्मक्षय रूप लाभ मिलने की अपेक्षा कर्मावरण रूप हानि मिलना संभव है। समस्त क्रिया विधियों का लक्ष्य वीतरागगुण संकीर्तनादि द्वारा कर्मक्षय करना या कर्मक्षय का मार्ग प्रशस्त करना है। अब इन स्थानों में हम यदि सरागदेव की स्तुति के प्रपच में पड़ जाते है तो लक्ष्य पतित होकर आशातना के चक्कर में फँस जाते है। "सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" निसीही३, आदि प्रतिज्ञा करने के बाद हम ये विपरिताचरण करें, यह कहाँ तक उचित है ?

वास्तव में हम दृष्टिराग और पुर्वाग्रह छोड कर सोचें तो साफ दिखेगा कि चौथी स्तुति करके हम वीतराग की आशातना करते हैं। वृत्तिपोषण में सरत हम कहाँ से कहाँ चले गये यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है।

श्रीमहावीर प्रभु के छंद में ठीक कहा है—

सेवो वीर ने चित्त मां नित्य धारो ॥
अरि क्रोधने मन्न थी दुर वारो ॥

क्या उत्तर है इस प्रश्न का ?

देखिये वे उल्लेख—

१ — नौ अंग सूत्रों के टीकाकार श्रीमद् अभयदेवसूरिजी ने पंचाशक की टीका में "चतुर्थ स्तुति किलार्वाचीनेति" इस पाठ से चौथी स्तुति को नवीन घोषित किया है। ये आचार्य पट्टावली समुच्चय के लेखानुसार वि. सं.११३५ या ११३९ में स्वर्गत् हुए है [१]।

यदि आचार्यश्री के इस लेख को अन्य आचार्य का अभिमत माना जावे तो भी यह सिद्ध होता है कि वे अन्य आचार्य प्रभावक और शास्त्र विचार में दक्ष होंगे अत. उनके अभिमत का उल्लेख करना आवश्यक था, अत: उल्लेख किया गया।

—२ पंचाशक की टीका के टिप्पणीकार ने "चतुर्थ स्तुति किलार्वाचीना,, का स्पष्टिकरण करते हुए कहा है—

" व्यवहार भाष्ये स्तुतित्रयस्य कथनात् चतुर्थस्तुतिरर्वाचीना इति गूढामभिसन्धि ? किंच नायं गूढाभि सन्धिः, किन्तु स्तुतित्रयमेव प्राचीनं प्रकटमेव भाष्ये प्रतीयते। कथमिति ? चेत् द्वितीय भेद व्याख्यानावसरे 'निस्सकड" इति भाष्य गाथायां 'चेइये सव्वेंहि थुइ तिण्णी" इति स्तुतित्रस्यैव ग्रहणात्। एवं भाष्यद्वयपर्यालोचनया स्तुतित्रयस्यैव प्राचीनत्वम्। तुरीयस्तुतेरर्वाचीनत्वमिति।



१— वि. पंचत्रिंशदधिकैकादशशत (११३५) वर्षे केचित् एकोनचत्वारिंशदधिकैकादशशत (११३९) वर्षे नवांगवृत्तिकृत् श्रीअभयदेवसूरि. स्वर्गभाक्॥

—पट्टावली समुच्चय पृ. ५४,

तपागच्छीय श्री रत्नशेखरसूरि ने वि. सं. १५०६ में स्वोपज्ञ श्राद्धविधि टीका में भी इस गाथा की टीका लिखते हुए इसी तथ्य को दुहराया है १ ।

४— श्रीमद् संघदास गणि क्षमाश्रमण रचित श्री व्यवहार सूत्र भाष्य पर विक्रम की १३ वीं शती के पूर्वार्ध में आचार्य श्री मलयागिरिजी कृत टीका में लिखा है—

तिण्णि वा कड्ढइ जाव, थुईओ तिसिलोगिया ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि ।।

श्रुतस्तवानन्तरं तिस्रः स्तुतिस्त्रिश्लोकिकाः श्लोक त्रयप्रमाणा यावत् कुर्वते, तावत्तत्र चैत्यायतने स्थानमनुज्ञातम् कारणवशात् परेणाप्युप स्थापनमनुज्ञातम् ।

—श्रुतस्तव (पुक्खरवर.) कहे बाद तीन श्लोक प्रमाण स्तुति कही जावे तब तक जिन मन्दिर में ठहरना चाहिये । आशातना निवारणादि कारण हो तो अधिक भी ठहरा जा सकता है ।

व्यवहार भाष्य की इस आज्ञा में साफ कहा गया है । कि तीसरी स्तुति कहने के बाद जिनालय मे अधिक नहीं ठहरना । अब यहाँ चौथी स्तुति जो सराग देवो की है वह आई कहां ? यदि चौथी स्तुति उस समय होती



१ —निस्सकडेति निश्राकृते-गच्छ प्रतिबद्धे अनिश्राकृते च तद्विपरीते चैत्ये, सर्वत्र चैत्ये तिस्र स्तुतयो दीयन्ते प्रतिचैत्ये स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति भूयांसि वा तत्र चैत्यानि ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रति-चैत्यमेकैकापि स्तुतिर्दातव्या ।।

६–वि. की १३ वीं शती में श्री देवेन्द्रसूरि रचित चैत्यवंदन भाष्य की उन्हीं के शिष्य श्री धर्मघोषसूरिजी ने टीका लिखी है। उसमें भी लिखा है—

'चैत्यवन्दनान्ते शक्रस्तवाद्यनन्तरं तिस्र: स्तुतय: श्लोकत्रयप्रमाणा: प्रणिधानार्थं यावत्कथ्यन्ते प्रतिक्रमणान्तरमंगलार्थं स्तुति त्रय पाठवत् तावच्चैत्यगृहे स्थान साधूनामनुज्ञातं निष्कारणम् न परत।'

—चैत्यवदन के अन्त मे, शक्तस्तव के बाद प्रणिधान के लिये, प्रतिक्रमण के अन्त में मंगल के निमित्त वर्धमान स्तुति के समान, श्लोकत्रय प्रमाण तीन स्तुतियाँ कही जाय, तब तक साधुओं को निष्कारण ठहरने की आज्ञा है। अधिक ठहरने की नही।

यहाँ पर भी चौथी स्तुति का नामो निशान भी नहीं दिखता।

७–पंचाशक ग्रन्थ टीका मे लिखा है—

"संपूर्ण चैत्यवंदना स्तुतित्रयेण संपूर्णा भवति"

सपूर्ण चैत्यवंदन तीन स्तुति से सपूर्ण होता है।

८–स्तुति किसे कहते है? और स्तुति कब की जाती है? इन प्रश्नो पर विचार करने से स्तुति परक विचारणा स्पष्ट हो जाती है। कहा गया है—

चैत्यवंदनाया यत्कायोत्सर्गानंतरं भण्यते तत्स्तुय' इति रूढा: ॥

चैत्यवदन में कायोत्सर्ग के बाद कही जावे वह स्तुति ऐसा रूढार्थ है।

स्तृति का प्रमाण क्या है और वह कितने प्रमाण में है। इस पर कहा गया है—

सर्वानुभूति नाम का यक्ष मुझको समस्त कार्यों में सिद्धि देवे ॥

२—मुनि लब्धिविजय रचित बीज की स्तुति में चौथी स्तुति

कर जोडी बीजे,हुं प्रणमुं तस पाय

एम लब्धि विजय कहे, पूरो मनोरथ माय ॥४॥

हम चौथी स्तुति में देवता से याचना नही करते, मात्र उनको कर्त्तव्य का उपयोग दिलाने के लिये चौथी स्तुति करते है २। यह विधान मानने वाले, पांच महाव्रतधारी मुनिलब्धिविजय-देवी चक्रेश्वरी के पैरों में प्रणाम करके अपने कौनसे मनोरथ पूर्ण करने को आश लगाए बैठे हैं ? महाव्रती के मनोरथो की पूर्ति अव्रती देवता कर सकेगा क्या ? महाव्रत जैनत्व और सम्यक्त्व की यह अवहेलना क्या लाभ देगी ?

३—श्रीनयविमलजी के शब्दों को भी देखिए—

"धरणिंद राय पद्मावती, प्रभु पास तणा गुण गावती

सहु संघ ना सकट चूरती, नय विमल ना वछित पूरति ४।

महाव्रती के वाछित क्या है—

समाही वर मुत्तमं दिन्तु—लोगस्स. ।

संतिमुणी मम संति समाहिवर दिसउ—अजि सति. ।

देखिये ये वांछित है। नयविमल सराग से अपने वांछितों की पूर्ति के लिये लालायित है।

४—श्री वीर विजय रचित पचमी की स्तुति में—

दौलत दायी अधिक सवाई,

देवी दे ठकुराई ॥४॥



२ —वेयावच्चगराण उवओगत्थ चउत्थ थुइ ॥५२॥ चं, भा. ।

गतवति ! विकिरत्यालीं महामानसीष्टा—

नव घनतरवारिं वारणारावरीणाम् ॥

नवमें जोड़े में—

दिश्यात् तवाशु ज्वलनायुधाऽल्प—

मध्या सिता कं प्रवरालकस्य

पन्द्रहवे जोड़े में—

केकिस्था वः क्रियाच्छक्ति—करा लाभानयाचिता ॥

प्रज्ञप्तिर्नूतनाम्भोज—करालाभानयाचिता ॥४॥

बीसवे जोड़े में—

अधिगतगोधिका कनकरुक् तव गौर्युचिता—

ऽक्षमलकराजि तामरसभास्यतुलोपकृतम् ॥

मृगमद पत्रभङ्गतिलकैर्वदनं दधती

कमलकरा जितामरसभाऽस्यतु लोपकृतम् ॥४॥

इक्कीसवे जोडे मे—

विपक्षव्यूहं वो दलयतु गदाक्षावलिधरा—

ऽसमा नालीकाली विशदचलना नालिकवरम् ॥

श्री शोभनमुनि रचित स्तुतियों में से ये सात उदाहरण प्रस्तुत है। चैत्यवंदन या आवश्यक क्रिया प्रारंभ में स्तुति होती है। इन दोनों स्थानों पर ऐसी कौनसी आवश्यकता पड़ी कि आराधक को रक्षा के लिये पुकार करना पड़ी ? चैत्यवंदन और सामायिक क्रिया में शत्रुओं का और शत्रुपक्ष का दलन और क्षय करने की प्रार्थनाएँ करना किस प्रकार उचित होगा ? इन पवित्र स्थानों पर बैठकर इस प्रकार की क्लिष्ट परिणाम धारा में रहने

आगमिक गच्छ था।

२—वि. सं. १२८५ में श्रीजगच्चन्द्रसूरिजी से तपागच्छ हुआ।

३—पट्टावली समुच्चय के पृष्ठ ६८ के लेखानुसार ५५ वें पट्टधर श्रीहेमविमलसूरिजी के सत्ता समय वि० सं० १५६२ में त्रिस्तुतिक मत के मानने वाले थे।

४—पन्यास श्रीकल्याणविजयजी लिखित 'पट्टावली पराग संग्रह' पृष्ठ ५१५ पर किसको वन्दना नहीं करना? इसका विवेचन इस प्रकार आया है—

> असंजयं न वन्दिज्जा, मायरं पियरं गुरुं ॥
> सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणी य ॥११०५॥

व्याख्या— न संयता असंयताः अविरता इत्यर्थः, तान्न वन्देत, कं? मातरं, जननी तथा पितरं जनकं, असंयतमिति वर्तते, प्राकृत शैल्या चासंयत शब्दो लिङ्गत्रये यथायोगमभिसंबध्यते, तथा गुरुं पितामहादि लक्षणं, असंयतत्वं सर्वत्र योजनीयं तथा हस्त्यश्वरथ-पदातिलक्षणा सेना तस्याः पतिः सेनापतिः-गणराजेत्यर्थः तं सेनापतिं, प्रशस्तारं प्रकर्षेण शास्ता प्रशास्ता तं धर्मपाठकादि लक्षणं, तथा बद्धमुकुटो राजाऽभिधीयते तं राजानं, दैवतानि च न वंदेत देव देवी संग्रहार्थं दैवत ग्रहणं, च शब्दाल्लेखाचार्यादि ग्रहो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ ११०५ ॥

माता, पिता, पितामह, सेनापति, पाठक, राजा और देवी देवता असंजय है. अतः उन्हें वन्दन नहीं करना चाहिये।

टीकाकर आचार्यवर्य असंयत–अविरत देव देवी को वन्दन का

९—श्रीविजयसूरिजी के आज्ञावर्ती स्व. श्रीकस्तूरसूरिजी ने "ज्ञानप्रदीप" के पृष्ठ १६७ पर लिखा है—

"देह मां आत्म बुद्धि धारणकरी पोताना स्वरूप ने भूली गयेला जडाशक्त जीवो जाणता नथी के देवगती मां उत्पन्न थयेला देव मनुष्यना शुभाशुभना उदय सिवाय कई पण शुभाशुभ करी सकता नथी, मनुष्य पोताना शुभना उदय थी अनुकूल सुख मेलवी, साधन सम्पन्न बनी शके छे, बाकी देवताओ कंई पण आपी शकता नथी'

१०—आगमोद्धारक स्व. श्रीसागरान्नदसूरिजी के "पर्वव्याख्यान संग्रह" के पृष्ठ २० पर लिखा है—

"मोक्ष बिना कशा मांटे समकिती नी प्रार्थना न होय केम के बीजे तो सर्वत्र जन्म, जरा, मृत्यु, आधी, व्याधी, उपाधी, हर्ष शोक रोग बधु छेज, एटले समकिती नी प्रार्थना मोक्षनीज होय, केमके तेनु मन मोक्ष मांज रमतु होय"।

११—आचार्यवर्य श्रीमद्विजयधर्मसूरिजी म० के प्रवचनों की पुस्तक के पृ ७२ पर लिखा है—

"अरिहंत भगवंत ऐज मारा तारक देव छे, सुसाधु एज मारा शिरसावंद्य गुरु छे, अने ए अरिहंत भगवंते प्ररूपेलो आत्मकल्याण माटे ने जे श्रुत अने चारित्र रूपी धर्म एज मारो धर्म छे, आवी निश्चल श्रद्धा टकाववी जोइये, तो ज अरिहंत नी निश्रा बराबर गणी शकाय अरिहत भगवतना शासन मां रहेवा छतां गाढ़ कर्मोदय थी पोतानी आपप्ति न टले तो तेमां स्वकर्मनु निबिड़पणु मानवु जोइये, परन्तु अरिहंत नी निश्रा छोड़ी देव-देवला तरफ चित्तवृत्ति न जवी जोइये" "अरिहंत परमात्मानी भक्ति करवा

हठाग्रह से दूषित मन व्यक्ति बाहर से शुद्ध हो कर, विधिवत् वंदनादि करता है, फिर भी वह मलिन बुद्धि यथेच्छ फल नहीं पाता। जिस वृक्ष के कोटर में अग्नि जल रहा है, वह वृक्ष अपरिमित जलधारा से सींचा जाने पर भी पल्लवित नहीं होता। उसी प्रकार क्लिष्ट चित्त व्यक्ति अन्तर शुद्धि के बिना, कितनी ही आराधना करे वह निष्फल है। अतः हठाग्रह छोड़ कर, प्रशम रस पीकर मध्यस्थमना हो बुद्धिवान व्यक्ति विधि से चैत्यवंदना करे।

इन्हीं आचार्य श्री ने इसी ग्रन्थ में आगे लिखा है–

सब्भावसुंदरं ज, थेवं व बहु व धम्मणुट्ठाण ॥

होइ सुविसुद्धफलयं, तव्विवरीयं न उ बहु पि ॥८७६॥

सद्भाव से अल्प या बहुत भी धर्मानुष्ठान किया जाता है तो वह विशुद्ध फलदाता होता है। उससे विपरीत यदि कार्य अच्छा है और भावना अच्छी नहीं है तो शुभफल कैसे मिलेगा ?

चैत्यवंदन भाष्य की इन गाथाओं को सामने रखकर चैत्यवंदनकी प्रोज्ज्वलता के साथ रागद्वेषरूप क्लिष्ट अध्यवसायों की जनक चौथी स्तुति देखने से यह बात साफ हो जाती है कि चैत्यवंदन में क्लिष्ट अध्यवसाय हानिकर हैं।

इन ऊपर प्रस्तुत विचार प्रमाणों से चैत्यवंदन में स्तुति ३ करना यह विचार सैंकड़ों वर्ष पहले का है यह अच्छी तरह सिद्ध है फिर भी जो लोग तीन थुई की प्ररुपणा नई है और अप्रमाण है

पारेइ णमुक्कारं, थुई भणइ जाव उज्जोअं ।
सव्वलोए अरिहंत—चेइयाणं, वंदण अन्नत्थं ॥
उस्सग्ग पुव्वविहिणा, ठावइ पूरइ तओ पच्छा ।
थुई पुक्खरदीव, सुअस्स भगवओ अन्नत्थं ॥
उस्सग्गं पारइ तह, थुई सिद्धाणं तओ ठिच्चा।
सक्कत्थयं जावति, इच्छामि य जावंत गाहा ॥
णमोऽरहथुत्तं च जाव पणिहाणकए पुण्णं ।

—श्रीप्रद्युम्नसूरि कृत समाचारी प्रकरण ।

चौथी स्तुति की भावना का व्याख्यान किया क्या गया है। यह उक्त प्रमाणो से जाना जा सकता है। ऊपर प्रस्तुत प्रमाणों के अलावा श्रीभगवतीसूत्र के दूसरे शतक के पाँचवे उद्देशगत तुंगिया नगरी के श्रावकों का अधिकार, श्रीज्ञाताधर्मकथा सूत्र गत अरहन्नक श्रावक का अधिकार, श्रीउपासकदशाग सूत्रगत कामदेव श्रावक तथा चुलणी पिता का अधिकार, इन चार अधिकारों तथा प्रकरणादि ग्रन्थों में वर्णित अन्य अनेक वर्णनों से ज्ञात होता है कि देव दानव राक्षस और किन्नरो के उपसर्गों के आ पड़ने पर भी श्रावक–उपासक भी दृढता से व्रत–आचार और उपासना से नही डिगे। तब प्रतिक्रमण जैसी पवित्र क्रिया के अवसर पर बिना कारण ही देव स्तुति-याचना करना मात्र व्रत भंग है।

इन प्रस्तुत प्रमाणों के सद्भाव में यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि तीन स्तुति का सिद्धान्त सत्य, प्रमाणसिद्ध और आचरणीय है। गत सौ वर्षो में इस सिद्धान्त के खंडन में जितने भी तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये गए है, वे सब लचर और विपरीत है।

विचारणा क्या अर्थ रखेगी ? श्रीजिनदेव जैसे परमोच्च देव के सामने उनके गुण कीर्तन में तदर्पित, तल्लीन, तन्मन और तल्लेश्य हुए हम सरागी की स्तुति करें यह व्याघात नही है ? अमृत में जहर का मेलन नहीं है ? प्रतिज्ञा का भंग नही है ? श्रीजिनेन्द्र प्रवचन पर अश्रद्धा तो नहीं है ? मयणासुंदरी की भावना पर विचार करें ।

जैनधर्मगत किसी भी उपासना में से यदि समभाव[1] चला जाता है तो वह उपाहना कर्मबंध का व्यापारमात्र रह जाती है। उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने अध्यात्मसार में फरमाया है कि आहार उपधि पूजन ऋद्धि आदि की कामना से किया गया अनुष्ठान विषानुष्ठान[2] है । दिव्यभोगाभिलाष और स्वादृष्टफल की सपूर्ति के लिए किया गया है कि अनुष्ठान गरानुष्ठान[3] है । दोनों का फल कथन करते हुए कहा गया है कि स्थावर या जगम विष के भक्षण से जिस प्रकार भक्षक की तत्काल मृत्यु होती है उसी प्रकार विषानुष्ठान से अनुष्ठानकर्ता—आत्मा नुकसानी में आता है[4] । कुद्रव्यसंयोग से बनाया गया जहर गर संज्ञक



१—परिशुद्धमनुष्ठान, जायते समताल्वयात, ॥
कथककक्षोदसक्रान्ते,: कलुषं सलिलं यथा ॥ १॥

२—आहारोपधिपूजर्द्धि — प्रभृत्याशन्सया कृतम् ॥
शीघ्रं सच्चित्तहन्तृत्वा — द्विषानुष्ठान मुच्यते ॥३॥

३—दिव्य भोगाभिलाषेण, कालान्तरपरिक्षयात् ॥
स्वादृष्टफलसम्पूर्त्त — गरानुष्ठान मुच्यते ॥५॥

४—स्थावर जंगमं चापि, तत्क्षणं भक्षितं विषम् ॥
यथा हन्ति तथेव स — च्चित्तमैहिक भोगत. ॥४॥

वहार सूत्रभाष्य टीकानुसारी है। यतिगण जिनालयों में आसन जमाये बैठे थे अतः यह आज्ञा प्रचलित की गई थी।

पाँचवे नियम में साधु साध्वियों को श्वेत मानोपेत और जीर्ण प्राय (अल्पमूल्य) वस्त्र ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासनवर्ती साधु साध्वियों को श्वेत वस्त्र ही परिधान करना उचित है। वस्त्र परिधान की इस विचारणा का तलस्पर्शी अध्ययन गुरुदेव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. लिखित 'पीतपटाग्रह मीमासा' मे प्रस्तुत किया है। छट्ठे नियम के श्रुतदेवता, क्षेत्र देवता और भुवनदेवता के कायोत्सर्ग स्तुति एवं लघु शांति बड़ी शांति आदि का पाठ भी प्रतिक्रमण मे बोलना नही चाहिये, यह कहा गया है।

श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता और भुवनदेवता के कार्योत्सर्ग छः आवश्यक की सीमा मे किये जाते है जो श्रीआवश्यकटीकानुसार करने योग्य नही है। आवश्यक विधि का हेतु मात्र पापालोचन है। आवश्यकों की सीमा मे ये कायोत्सर्ग करने की हट से सामायिक का मतलब ही चला जाता है। सामायिक मे बैठे आराधक के लिए आत्मा और आत्मीय कार्य से सब 'पर' है। जो पर है वह सावद्य है। सावद्य का त्याग सामायिक है अतः ये कायोत्सर्ग और स्तुतियाँ करना उचित नही है।

श्रीवीर निर्वाण की सातवी शताब्दि मे हुए, पट्टपरंपरा के १९ वे आचार्यदेव श्रीमानदेवसूरिजी ने नाडोल नगर मे रह कर शाकंभरी नगर के संघ के आग्रह से 'महामारी' के निवारण के

और रत्नों एवं पुष्पों की वर्षा भी कैसे संभव होगा ? तब फिर इसके बोलने से किस उद्देश्य की पूर्ति होगी ?

वास्तव मे शान्ति पाठ की विधि तो यह है ।

श्राद्धः श्रातानुलिप्तः सितवसनधरो नीरुजोऽव्यंगदेहो, ॥
दत्वा कर्पूर पूर व्यतिकरसुरभि धूपमभ्यस्तकर्मा ।
पूर्वं स्नात्रेषु नित्यं भृतगगनघन-प्रोल्लसद्घोष-घण्टा ॥
टकराकारितारात् स्थितजननिवहं घोषयेत् पूर्णघोषः ॥२॥

—अर्हद् अभिषेकविधि २ पूर्व

—प्रति प्रबोध टीका ३ भाग पृ. ६३२

स्नात श्रद्धालु श्रावक, अनुलोप किया हुआ, श्वेतवस्त्र धारक, निरोग, परिपूर्ण अंगवाला, नित्य, स्नात्र का अभ्यासी ऐसा कर्पूरादिधूप घटा करके प्रचंड उल्लसित आवाज वाली घंटा के टंकार द्वारा समीप रहे जन समूह को बुला कर घोषणा करे। इस प्रकार तैयार हुआ श्रावक शन्तिपाठ बोले अब सामायिक प्रति-क्रमण मे प्रवृत्त उपासक शन्तिपाठ बोलता है तो प्रारभ विधि मे भंग नही आता है क्या ?

संतिकर स्तोत्र कहने की प्रथा भी गतानुगतिक ही है तपागच्छीय श्रीविजयदानसूरिजी रचित 'विविधप्रश्नोत्तर' के दूसरे भाग के पृष्ठ १८१ पर लिखा है कि—

'पाक्षिकादि प्रतिक्रमण मां अंते सतिकरं कहेवा नो रिवाज वर्तमान मां थोड़ा ज वर्षो थी शरू थयेल होवा थी पाक्षिकादि प्रतिक्रमण मां ते कहेवुं प्रमाणभूत लागतुं नथी आ उपर थी' 'ते देवसी प्रतिक्रमण मां कहेवुं ए तो सुतरां निराधार साबित थाय छे'

तो पहले उसके जलागम क्षेत्रों से जल का आना रोकना पड़ेगा। बाद में जल की निकासी करने से तालाब शीघ्र खाली हो जायगा।

इसी न्याय से कर्माश्रव द्वारों को सामायिक दंडकोच्चार से रोक कर, फिर इरियावही प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये। एतदर्थ प्रमाणो के लिये श्रीआवश्यक सूत्र टीका, चूर्णि, लघुवृत्ति, पंचाशकचूर्णि, श्रावक धर्मविधि प्रकरण आदि प्रस्तुत हैं। यथा

१ 'इड्ढिपत्तो सामाइयं करेइ, अणेण विहिणा करेमि भंते' सामाइयंसावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि त्ति काऊण पच्छा ईरियं पडिक्कतो वंदित्ता पुच्छति पढति वा।

ऋद्धिप्राप्त श्रावक सामायिक करे (तो) इस विधि से 'करेमि भंते' ? इत्यादि सामायिक-पाठ उच्चर करके इरियावही प्रतिक्रमण करे फिर गुरु को वंदन करके सूत्रार्थ पूछे या पढ़े।

—आवश्यक टीका

२ वदिऊण य छोभवंदणेण गुरुं, संदिसाविऊण सामाइयमणुकड्ढिय (जहा) करेमि भंते ? सामाइयं (इत्यादि) तओ इरिया पडिक्कमिय आगमणमालोएइ पच्छा जहाजेट्ठं साहुणो वंदिऊण पढइ सुणइ वा।

—श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि।

थोभवंदन से गुरु को वंदन करके "संदिसाऊ" इत्यादि आदेश लेकर करेमि भंते ? इत्यादि सामायिक दंडक उचर कर, पीछे इरियावहि प्रतिक्रमण करे। आगमन की आलोचना करके यथा

जघन्य और मध्यम चैत्यवन्दन इरियावही प्रतिक्रमण किये बिना भी हो सकता है।

इन प्रमाण बातों से मालूम होता है कि श्रीमहानिशीथ सूत्र को आज्ञा प्रायिक है। बहुत क्रिया विषयक है, किन्तु सामायिक के स्पष्ट नाम निर्देश से बाद में इरियावही करने की होने से वह माननीय है। अतएव सामायिक पाठ ग्रहण करने के बाद ही इरियावही प्रतिक्रमण करना उपयुक्त है।

स्तुति और इरियावही प्रतिक्रमण पर किया गया यह बिचार शास्त्रों से प्रमाणित तथा तर्क संगत और प्रमाणसमर है। फिर भी उत्थापकत्व का आरोप लगाना कहाँ तक उचित है? यह विचारणीय प्रश्न है।

आठवाँ नियम साधु साध्वी के नित्याचार परक है। सेवा, वस्त्र मात्र औषध एवं आहार की निर्देशता पर बल देना है।

नवमें और अन्तिम नियम में जिन प्रतिमा और उसकी पूजा भक्ति करना आगम, ग्रन्थ, तर्क विज्ञान सम्मत होने से उसका सादर स्वीकार करने का निर्देश है।

जिन प्रतिमा और उसके अर्चन विधान पर अनेक आचार्यों तथा विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों में, निबंधों में तथा अनेक स्थानों में प्रमाण पुरस्सर विचार विमर्श किया है। प्रतिमा-शतक ग्रन्थ में तो प्रमाणों तथा तर्कों का पर्वत ही रच दिया है।

प्रस्तुत सिद्धान्तोपदेश को सविवरण समझने से यह बात स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि गुरुदेव श्री ने अपनी चिन्तन प्रधान प्रवृत्ति से आचार-विचार के प्रत्येक पक्ष पर सप्रमाण अवलोकन

कहीं फूल ! कहीं काँटे !!



जावरा में क्रियोद्धार करके गुरुदेव ने खाचरोद चातुर्मास किया। शुद्ध साध्वाचार पालन और प्रचार से यतियों में खलबली मच गयी थी। जिस किसी प्रकार से वे गुरुदेव को मार्गहृत करने के प्रयत्न में लगे थे। कोई मंत्रों के बल सामने आया था, तो कोई तर्क प्रवण बुद्धि लेकर आ डटा था तो कोई कुटिल चालों के जाल बुन कर आया था। परीक्षा की घड़ियाँ थी, पर्वत के समान अचल हो गुरुदेव सब देख रहे थे। अवैर भावना और मुस्करा-हट शिथिलों के सारे प्रयत्नों को नाकाम कर रही थी।

दुनिया ने प्रत्येक शुभ और शाश्वत विचार के विचारक का पहले विरोध किया है। क्योंकि वह विचारक समाज की सड़ी गली और बेकाम परम्पराओं के दल-दल से स्वयं निकलता है, और औरों को निकालने का भरसक प्रयत्न करता है। उसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आलोचनाओं तर्जनाओं और यातना के संकड़े मार्ग से गुजरना पड़ता है। तब भी प्रज्ञाशील विचारक शान्त और

निष्फल एवं निरर्थक है। इसी विचार की प्रतिष्ठा प्रचार और पालन में पूज्य गुरुदेव का सारा जीवन यापन हो गया है।

खाचरोद के वर्षावास के अन्त में जोधपुर के यति जुहारमल आये। ये यति ज्योतिष में अच्छा अनुभव रखते थे। एक भक्त के प्रश्न पर गुरुदेव के लम्बे जीवन का भविष्य कहा। चातुर्मास समाप्त हो रहा। कार्तिक पूर्णिमा का प्रातः हुआ। दोनों शिष्यों के साथ गुरुदेव ने विहार किया। खाचरोद की जनता ने आँसू भरी आँखों और भाव भरे हृदय से बिदा दी। मुकाम मडावदा में हुआ। अनेक ग्राम नगरों के भाविकों ने अपने२ ग्राम नगर आने के लिये प्रार्थनाएँ की; गुरुदेव ने क्षेत्र स्पर्शना योग कहा।

मध्याह्न मे श्रीसिद्धाचलतीर्थ संस्तवना हो रही थी। तीनों मुनिवर भाव विभोर हो संस्तवना में प्रलीन थे। तरुण मुनि प्रमोदरुचीजी शीघ्र कवि थे। तत्काल रचित "मुझ मन लागो नेह विमलगिरी भेटशु' स्तवन मंजुल स्वर से गाया। भक्ति भावनालय और स्वर माधुर्य ने वातावरण में अवाच्य आह्लाद फैला दिया। स्तवना समाप्त हुई। गुरुदेव की आँखों मे तृप्ति और सतोष की लहरे लहरा रही थी। आस पास और इधर उधर सैकड़ों भक्त बैठे थे। पर नीरव शांति थी गुरुदेव बोले मुनियों अपन साधु हैं। वर्षाकाल को छोड़कर अपन को ग्राम नगरों में विहार करते रहना चाहिये। एकत्र निवास, गृहस्थों का अधिक संसर्ग और गृद्धि चारित्र को मलिन करने वाले हैं। अतः अपन को यथाशक्य निरुद्देश्य विहार और अनिश्चित दिशा रखना हितकर है। दोनों मुनियों ने गुरुदेव की आज्ञा को माथे चढाया

वे अपनी शक्ति का संचय करके सन्नद्ध होते कि हतप्रभ हो जाते। उनके नये–नये तरीके भी सब नाकाम हो रहे।

जब तक किसी व्यक्ति सिद्धान्त या कार्य का विरोध नहीं होता तब तक उसके गुण दोषों की गवेषणा नहीं होती। विरोध से व्यक्ति सिद्धान्त एवं कार्य की सफलता को शुरुआत होती है। दुनियाँ के प्रत्येक विचार और विचारक को हमेशा विरोध प्रतिकार और प्रहारों के मध्य से गुजरना होता है। जब शूलों की यातना सहेंगी अंगुलियाँ, तो फूलों से सौरभ मिलेगी। विरोध को पचालेना भी कार्यकार की क्षमता का मापदंड है। संग्राम में तोपों की गर्जना से सैनिक का घोड़ा नहीं भड़कता, किन्तु पटाखे के सामान्य धमाके से गधा भडक जाता है। इसी तरह विरोध के संग्राम में विचारक की प्रज्ञा नहीं भड़कती। स्थिर और सुस्थिर रह कर वे अपने कार्य में दत्तचित्त रहते हैं।

सत्य की नीव पर टिके सिद्धान्त का जब प्रचार होता है तब परम्परावादियों के खेमों में भूचाल आजाता है। क्षुब्ध और स्तब्ध हो कर वे चीखते हैं और चिल्लाते हैं। सब तरह से सन्नद्ध हो कर वे सत्य को दफनाने के लिये मैदान मे आ जाते हैं। तब वर्जनाओं के उन क्षणों में विचारक शान्त और प्रसन्न रहते हैं। हँसते मुस्कराते वे कष्टों को शूल नहीं फूल समझ लेते हैं।

कुछ ऐसा ही व्यवहार गुरुदेव के साथ हो रहा। जावरा में क्रियोद्धार के साथ ही गुरुदेव ने जिनवाणी और जिन–सिद्धान्त का प्रचार और पालन प्रारंभ कर दिया था, अतः शिथिलों को

प्रस्थित हुए रतलाम वाले। आषाढ़ शुक्ला १० को गुरुदेवश्री रतलाम पधारे। वर्षाकाल था अतः तप संयम और स्वाध्याय तथा तत्ववार्ता के मध्य समय भागता जा रहा था कि कोई पर्वाधिराज के अवसर पर गुरुदेव ने नौ उपवास किये। अभिग्रह था कि कोई उपासक स्वतः आकर बारह व्रत लेने को प्रस्तुत होगा तब गोचरी के लिये प्रस्थित होऊँगा। प्रथम गृह में जो मिलेगा वह दो दत्त अन्न एक दत्त पानी लुंगा। भादवा सुदी ६ की प्रातः रिखबचंद नामक कोई युवक आया। गुरुदेव के दर्शन किये। बैठा, बोला गुरुदेव आज रात से मेरे मन में बारहव्रती होने की उमंग हो रही है, मुझे बारहव्रत पालन का मार्ग दिखाईये। गुरुदेव ने उस नवयुवक को व्रतों का स्वरूप समझाया। अभिग्रह का प्रथम चरण पूरा हो रहा। स्वयमेव गोचरी पधारे। प्रमोदरुचिजी साथ थे। प्रथम घर में प्रवेश किया मध्यम वर्ग का परिवार था। गुरुदेव को सहसा अपने आगन में देखकर पुलकित हो गया परिवार। गोचरी में दो रोटी और थोड़ासा जल मिला। ग्रहण करके बाहर गये। अनेक भक्तों ने अनुनय की तब गुरुदेव ने अभिग्रह की बात प्रगट की। उपस्थित लोग आश्चर्य में डूबे थे। जिस के घर से गोचरी ली थी वह चकित हो गया। नौ उपवासो का पारणा दो रोटी और जल वह भी अपर्याप्त ! गुरुदेव प्रसन्न थे।

पारणा हो गया। मध्याह्न में प्रमोदरुचिने उपस्थित श्रावक गण में अभिग्रहों की आवश्यकता और प्राचीनता प्रगट की। दिन पर दिन जाते रहे कार्तिक चउदस का प्रतिक्रमण हुआ। प्रातः

परिचय था। रायचंदजी ने कर्मग्रन्थों के प्रश्न पूछे। मुनिधनविजयजी ने समुचित उत्तर दिये। वे चले गये। दूसरे दिन मध्याह्न में फिर आये। तत्व चर्चा का मोड़ आज नयवाद पर था। गुरुदेव ने स्वयं उत्तर दिये। इस तरह चर्चा वार्ता में दिन निकलते रहे। प्रमोदरुचिजी दो तीन दिन नगर में गोचरी गये पर निर्दोष गोचरी नहीं मिली। इस तरह आठ दिन हो गये। माघ का महिना था। सर्दी हडकंपी थी। गुरुदेवादि तीनों के पास दो-दो सूती और एक-एक उनी वस्त्र था। जो हड़कंपी सर्दी में सर्वथा अपर्याप्त थे। किन्तु वे मुनि थे, आत्मार्थी थे, मुमुक्षु थे। आत्म को अमल करने के रास्ते वे चले थे। एक रात में शीतल बयार चली, तब मठ का बाबा बोला मुनिवरों ठंड बहुत है। आओ इस धूनां पर तापो। तब मुनिश्रीधन-विजयजी बोले हम जैन साधु हैं। अग्नि सचित्त जल और अंगना तीनों से दूर रहते हैं। बाबा जैन साधु के आचार की गरीमा जानकर नतमस्तक हो गया। सुबह तीनों मुनिवर प्रातः क्रियाओं से निवृत्त हुवे। विहार की तैयारी की। नानपुर का रास्ता पूछा। बाबाने बता दिया। तीनों चलने को उद्यत हुए कि व्यासुजी रायचंदजी आदि आये। आठ दिनों में पहली बार उन्होने वंदना की। गुरुदेव ने धर्मलाभ दिया। सबने नगर में पधारने की प्रार्थना की। तीव्र आग्रह था अतः नगर में पधारे। बड़े आदर से उपाश्रय में ले गये। सर्वप्रथम सबने क्षमा याचना की। गुरुदेव ने फरमाया मुझे याद नही कि आपने कोई अपराध

संवत १९२८ हो गया था। बड़वानी में गुरुदेव विराजमान थे। राजगढ़ के भक्तों ने चातुर्मास स्थिरता के लिये प्रार्थना की। क्षेत्र की स्पर्शना थी अतः चातुर्मास राजगढ़ हो गया। छोटा कस्बा है राजगढ़ 'देशी व्यापार और खेती पर आधार है जन जीवन का' जैन जनता में तप और क्रिया में रुचि अधिक है। चातुर्मास के पश्चात् गुरुदेवश्री दलाई, कड़ोद, बड़नगर हो कर उज्जैन पधारे। अवंतिपार्श्वनाथ प्रभु की यात्रा करके मक्षी पार्श्वनाथजी की यात्रा की। विहारानुक्रम से इन्दौर पधारे। झवेरसागरजी जैन मुनि इन्दौर में थे। शास्त्र अर्थ में सामान्य प्रवेश उनका भी था। हठ और आग्रही प्रवृति के भी थे। एक दिन मध्याह्न में वे गुरुदेव के समीप आये। शास्त्र वार्ता का प्रसंग वहाँ चल ही रहा था। उनने उसमें शंकाएँ पैदा की। गुरुदेव ने उनका समाधन किया। दूसरे दिन भी आये। फिर तो हमेशां आने लगे। गुरुदेव शांत प्रकृति थे। समाधान करते। परन्तु मनुष्य स्वभाव के पारखी मुनिप्रमोदरुचिजी ने झवेर-सागरजी को कह दिया मुनिजी! शास्त्रवार्ता का लक्ष्य तो तत्व बोध है। "वादे-वादे जायते तत्वबोध" और आप तो जान कर भी नही समझते। मैं देख रहा हूँ आप हर प्रश्न में व्यर्थ का तर्क लाते हो। कविजी की यह मार्मिक उक्ति उन्हें झुलसा गई। वे छिद्रान्वेषी हो गये चैत्र में खचरोद बिराजे। जावरा जाते-जाते जेठ हो गया। अनेक ग्राम नगरों की प्रार्थनाएँ थीं, परन्तु रतलाम के संघ का तीव्र आग्रह था। तब जावरा की भी भावभरी अर्ज थी। रतलाम वालों को वि. सं. १९२९ के

एवं लालविजयजी अपने यति परिवार से वहाँ आये। मिले। सहपाठीगण का मिलन था। एक दिन मध्याह्न में वार्ता के मध्य प्रमोदरुचिने यतियों के हथकण्डो के हाल कहे। तीनों मुनिवर यतियों के उत्पातों का हाल सुन कर अवाक् रह गये। आँखों से आँसु आ गये। पं. मोतीविजयजी ने उसी दिन सारा हाल पत्र में लिखकर श्रीपूज्यधरणेन्द्रसूरिजी के पास एक कासिद (पत्रवाहक) भेजा। चैत्र में मालवे में बैठे यतियों पर श्रीपूज्य के पत्र आगये। सब यति मन मसोस कर रह गये।
वैशाख में पुन: तीनों यति आए और गुरुदेव से क्षमायाचना की। तब गुरुदेव ने कहा मैंने कष्ट माना ही नहीं तब माफी का प्रश्न भी कहाँ है ?

गुरुदेव का निष्कपट व्यवहार और वर्तन तथा चारित्र पालन की लगन देखकर यतिगण आश्चर्य में रह गये। चातुर्मास के दिन समीप थे। ग्राम और नगरों से प्रार्थनाएँ आने लगी। जावरा के निवासियों का तीव्रतम आग्रह था। आखिर वि. सं. १९३० का चातुर्मास जावरा हुआ। जावरा में यतियों का प्रभाव क्षीण हो गया था और फिर मोतीविजयजी ने सब यतियों को सख्त शब्दों में हिदायत देदी थी अत: यतियों के उत्पात शान्त हो गये थे, तब कुछ यतियों ने किन्ही अमूर्तिपूजक साधुओं को बहका दिया था। अत: गंभीरमलजी मुनि ने मूर्ति और उसके पूजन पर वितण्डा खड़ा कर दिया। तब गुरुदेव ने तर्क और आगम प्रमाणों के प्रकाश में विवेचनाएँ प्रस्तुत की, कि जिनने प्रतिपक्ष को निरुत्तर कर दिया।

क्रान्ति-कथा का उद्घोषक है।

जावरा की जनता को बड़े अनुनय से पाँच वर्षों में दूसरी बार गुरुदेव के चातुर्मास का सुयोग मिला था। जनता मजे से आराधना और तप त्याग में लीन थी। कार्तिक की मनभावन मौसम के एक दिन मारवाड़ के १०-१५ व्यक्ति ऊँटों पर बैठ कर जावरा आये। वहां आकर गुरुदेव का निवास स्थान पूछा। तब लोग समझ गये कि ये गुरु भक्त हैं। बड़े आदर से उन्हें उपाश्रय लाये। सेठ टीकमजी, गोड़ीदासजी, वागमलजी, फुआजी कुन्दनमलजी, सिरेमलजी, जीतमलजी आदि थे, जो मारवाड़ के आहोर कस्बे से शुभ निश्चय करके चले थे कि 'धर्मदाता गुरुदेव को मारवाड़ लेकर ही आहोर आवेंगे' निश्चय दृढ़ था। दूरी बहुत थी, पर मन में विश्वास और धीरज था। गुरुदेव को देखा कि सेठ वागमलजी विह्वल हो गये। बालक मां को देख कर मचल जाता है वही ढंग वहाँ हो गया। दौड पड़े वे, गुरु के पैरों में लोट गये। हर्ष के आंसुओं ने क्रांतिधर के पैरों को धो दिया। जावरे की जनता ने आहोर वालों का गुरु प्रेम देखा वे गद्-गद् हो गये।

तप संयम स्वाध्याय और जिन वाणी के प्रसार-प्रचार में लगे गुरुदेव की कृशकाया को देख कर सेठ टीकमजी उदास हो गये। मारवाड़ पधारने के लिये तीव्र आग्रह था। अतः गुरुदेव ने भी मारवाड़ की ओर पधारने का विचार किया। मालवे में यह संवाद जावरा के संघने फैला दिया। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर से वृन्द के वृन्द आगये. कहाँ मालवा और कहाँ मारवाड प्रभो!

बाह्य शुद्धि और स्थिरता के लिये गुरुदेव ने अदम्य साहस, निर्भयता और दृढता से महनत की। जावरा में यतियों का जीवन शूचिता के लिए "कलमनामा" अमल में लाया। क्रियोद्धार करके शास्त्र–प्रणालिकानुसार साधु जीवन मर्यादाओं को जीवंत किया। जिसके फल: स्वरूप संघ में पुन: साध्वाचार की प्रतिष्ठा हो गयी। धर्म और उसके नाम पर चले अनेक मनस्वी भ्रमों का उन्मूलन हो गया। साध्वाभासों-यतियों के संभास से संघ मुक्त हो गया। दंभ और दांभिक दोनो को समझ लिया जनता ने। संयम और संस्कार का क्रान्ति-घोष मालवा मारवाड़ में गूंजित हो गया।

आहोर के सघने ये सारे विवरण गुरुदेव के शिष्यों और टीकमजी चागमलजी आदि से सुने तो वे हर्ष से भर गये। एक दिन मध्याह्न में सारा संघ शामिल हुआ, श्रीप्रमोदरुचिजी को संघ ने आग्रह किया कि संघ की इच्छा है आप क्रियोद्धार वार्ता हमें सुनावें। मुनिश्रीप्रमोदरुचिजी जो कि स्वयं दृष्टा थे, और क्रियोद्धार में शामिल थे, अत: प्रत्यक्ष और अनुभूत सब बाते उनने श्रीसघ आहोर को सुनाई।

वास्तव में गुरुदेव का जीवन खुली किताब था। वे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी क्रान्ति के पहले भी क्रियोद्धार हुवे पर जो सुफल इस क्रान्ति-घोषणा क्रियोद्धार के हुवे वे संघ और साधु दोनों का हित करने वाले हुवे। संघ, साधु और संघीय व्यवस्थाओं पर जमे यतियों के ताना-शाही आधिपत्य की जड़ों को खोखला और वेसहारा कर देना सामान्य और साधारण

सिद्धान्त साखे रे संयम संचरुं रे,

लोक लहे लख वाद ।

ग्रन्थ गणावे रे गच्छ गुरु ज्ञान ने रे,

वचन वहाँ विखवाद ॥ सु. ॥ ३ ॥

पंचांगी रङ्गी रे पेखु पादरी रे,

जेह थी जग जय जोर ।

स्याद्वाद साधु रे संयम सांचवा,

तर्क नी एतो नहीं तोर ॥ सु. ॥ ४ ॥

तो हवे ताजी रे तुम निर्वद्यता रे,

धारुँ धर्म धुरेन्द्र ।

संयम साह्मो रे स्नेही स्वामजी रे,

राखजो सूरि राजेन्द्र ॥ सु. ॥ ५ ॥

ऐसी परिस्थियों में भी अचल निर्भय और अदम्य उत्साह से आप अपने मार्ग चलते रहे । तब विफलताएँ स्वतः पलायन हो गयी । सफलता पाँवों में पड़ीं । इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुदेव की क्रान्ति सम्पूर्णतया सफल रही और लोक मंगल की भावना से अनुप्राणित थी । जिसने व्यक्ति के व्यक्तित्व को शुद्ध और परिष्कृत किया, संघ को भ्रम से मुक्त किया और शासन की विजय वैजयन्ति को फहरा दिया । मुनिश्रीप्रमोदरुचिजी ने गुरुदेव की इस क्रान्ति का वर्णन अल्प शब्दों में बड़ा शानदार किया है ।

गड़बड़ता गहरी भई, अवसरे पणि पणकाल ।
भाँति भाँति के पद में, खात पात प्रतिचाल ॥



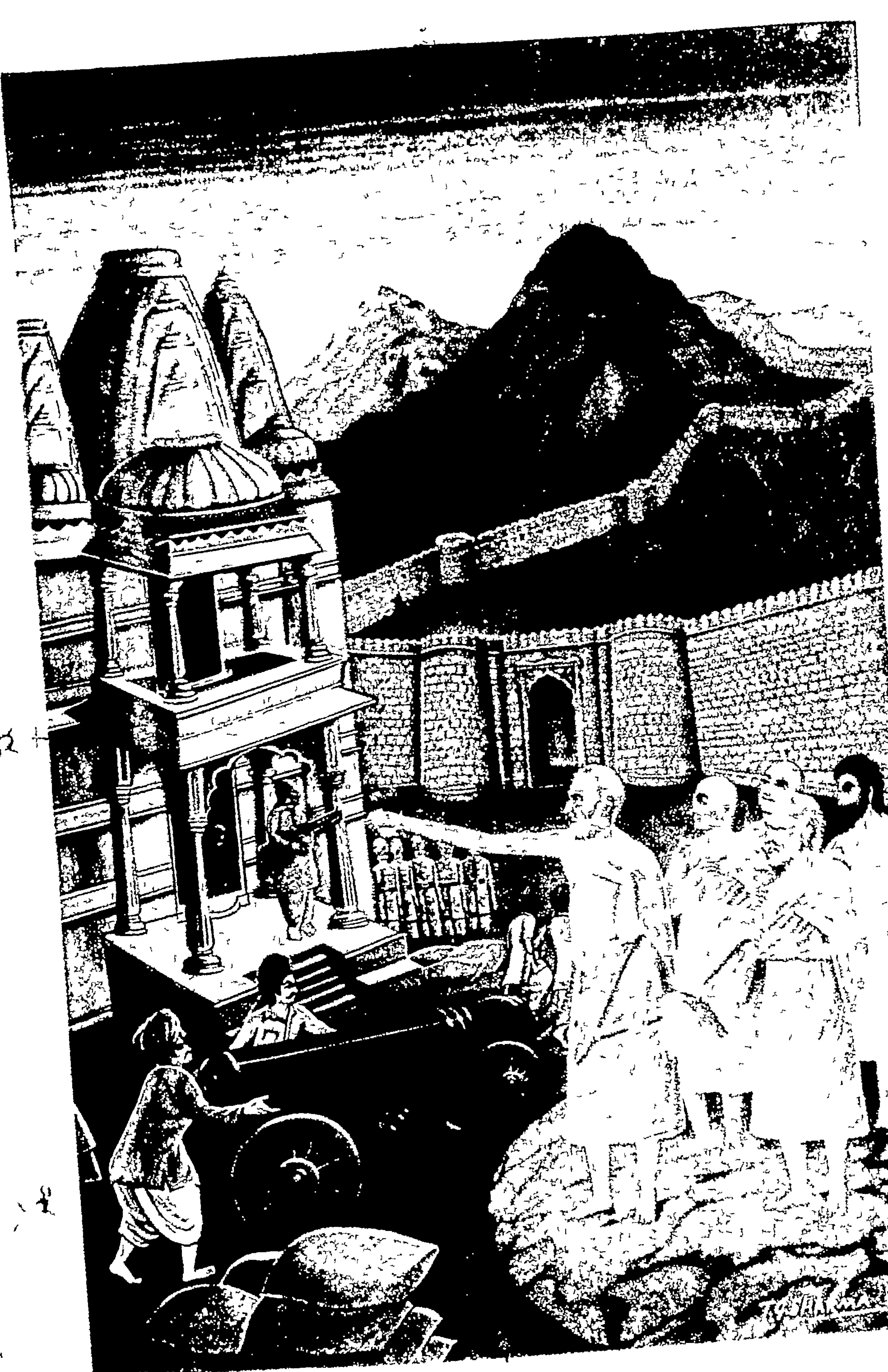
तीर्थोद्धार : तीर्थस्थापना

卐

परम पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने जीवनकाल में अनेक स्थानों पर जिनालयों के जीर्णोद्धार करवाये । जालोर, कोरटा, भांडवा एवं तालनपुर इन चार तीर्थों के भी जीर्णोद्धार करवाये । मालवे के राजगढ़ (धार) के पश्चिम में स्थित श्रीमोहनखेड़ा तीर्थ की स्थापना भी आपके ही उपदेशों का सुफल है । इन पाँचों तीर्थों का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत है ।

जालोरगढ़

कनकाचल और स्वर्णगिरी आदि नामों से विख्यात यह तीर्थ समदड़ी–भीलडी रैल्वे के जालोर स्टेशन से दक्षिण में स्थित पर्वत पर बने किले पर है । नीचे नगर में विशाल जिनालय हैं । किले में श्रीमहावीर जिनालय (यक्षवसति), चौमुख चैत्य (अष्टापदावतार), कुमार विहार (पार्श्वनाथ चैत्य) ये ३ जिनालय प्राचीन है । श्रीमहावीर जिनालय सबसे प्राचीन है । विक्रम की १४वीं शताब्दी तक यह तीर्थ प्रख्यात और भक्तों की उपासना का केन्द्र



धन से समृद्ध था। मध्यकाल में धर्मान्ध यवनों ने इस नगर का ध्वंस किया तब यहाँ के जिनालय भी भग्न हुए। एक समय का विशाल नगर आज एक सामान्य ग्राम है। अहमदाबाद–दिल्ली रेल्वे के जवाईबांध स्टेशन से पश्चिम में १२ मील दूर यह ग्राम कोरटा है। वर्तमान में यहाँ पर चार मन्दिर है।

१–महावीर मन्दिर—कोरटा के दक्षिण ओर स्थित यह जिनालय सादी शिल्पकला का नमूना है। वि० स० १७२८ में मूल प्रतिमा खंडित या विलोप होने से श्रीविजयप्रभसूरि के शासन काल में श्रीजयविजय गणि ने नूतन प्रतिमा सं० १७२८ के आ. सु. १ को विराजमान की यह प्रतिमा भी शिखा, कान, नासिका हस्तांगुली और चरणांगुली से खंडित हो जाने से श्रीमद् राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. के उपदेश से पुनरुद्धार हुआ तब नूतन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की जिसका लेख इस प्रकार है—

श्रीविक्रमात्सवत् १९५९ वर्षे वैशाखसुदी १५-पूर्णिमा तिथौ गुरुवासरे मरुधरायां श्रीराष्ट्रवंशीयमहाराजाधिराज श्रीसरदारसिंहजी राज्ये कोरटाधिपति लाखावत देवड़ाराज श्रीविजयसिंह वर्तमाने सीयाणा वास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय वृद्धशाखायां श्राद्धपोमाजी तत्सुत लुंबाजीत्केन श्रीमन्महावीर तीर्थाधिप बिंबं कारापितं। प्रतिष्ठितं भ. रत्नसूरिश्वर, तत्पट्टे क्षमासूरि, त. देवेन्द्रसूरि, त. कल्याणसूरि, त. श्रीविजयप्रमोदसूरि त. प्रभावक श्रीविजयराजेन्द्रसूरि राजैः कोरटा नगरे। लि. मोहनविजयेन सुधर्मवृ. तपागच्छे।

२—श्रीआदिनाथ मन्दिर–यह मन्दिर सन्निकटस्थ धोलागिरी की ढालु उपत्यका पर स्थित है। वि की १३वीं शताब्दि में नाहड़

प्रकार जिन बिंब बचा लिया गया। कोमता ग्राम के पालजी संघवी विक्रम की तेरहवीं शताब्दि में किसी संयोगवश श्री महावीर प्रतिमा को एक शकट में रख कर भाग चले थे। शकट भांडवा में जहाँ वर्तमान चैत्य है वहाँ रुक गया। शकट को आगे चलाने का सब प्रयत्न निष्फल होने पर पालजी संघवी ने ऊँची कुरसी पर जिनालय बनवाकर प्रतिमाजी प्रतिष्ठित किये। यह प्रतिष्ठा वि. सं. १२३३ माघ सुदी ५ गुरुवार को हुई थी।

वि. सं. १९५५ में आहोर प्रतिष्ठा के पश्चात श्रीमद् गुरुदेव जब यहाँ पधारे तब दियावट पट्टि के श्रीसंघ ने प्रतिमाजी को अन्यत्र ले जाने का विचार किया, किन्तु गुरुदेवश्री ने इन्कार किया और जीर्णोद्धार के लिये प्रेरणा दी। श्रीसंघ ने जीर्णोद्धार-कार्य प्रारंभ किया। फलःस्वरूप पंचतीर्थ जिनालय बना। जिसकी प्रतिष्ठा वि. सं.२०१० के ज्येष्ठ में श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने की। यद्यपि ग्राम में जैन बसति नहीं है तथापि जैनेतर जनता भद्र परिणामी है।

तालनपुर

किसी जमाने का बड़ा समृद्ध नगर आज मात्र गिनती के झोंपड़ों का ग्राम तालनपुर कुक्षी से अलिराजपुर जाने वाली सड़क के बाईं ओर स्थित है। तुंगियापुर, तुंगियापत्तन और तालनपुर नाम से विश्रुत इस ग्राम में पहले २१ जिनालय और ७०० घर जैनधर्मावलंबियों के थे। ऐसा उल्लेख वि. सं. १४१७ में जयानंद मुनिवर रचित "नेमाड़ प्रवास गीतिका" में किया है। वि. सं. १९१६ में श्रीऋषभदेवादि ४५ प्रतिमाएँ भूखनन से मिली। जो

चैत्यं कारापितं मूल बिम्बेन सह । श्रीआदिनाथ बिम्बं प्रतिष्ठा-
पितं स्थापितं च । श्रीजीवाजीरावस्य राज्ये ॥

प्रतिष्ठा के बाद लूणाजी स्वयं इस तीर्थ की व्यवस्था करते रहे। अपनी अन्तिम अवस्था में लूणाजी ने यह तीर्थ राजगढ के त्रिस्तुतिक श्रीसंघ को सौंप दिया । तब से वि. सं. २०१४ तक यह तीर्थ राजगढ़ के त्रिस्तुतिक श्रीसङ्घ ने ही सँभाला । वि. सं. २०१४ के माघ महिने में मालवा–मारवाड़ आदि के स्वगच्छीय श्रीसङ्घ की बैठक श्रीमोहनखेड़ा तीर्थ पर हुई, तब इस तीर्थ की व्यवस्था और देखरेख की जिम्मेदारी त्रिस्तुतिक सङ्घ राजगढ़ ने समस्त त्रिस्तुतिक सङ्घ को सौंपी । तब से इस तीर्थ की सारी व्यवस्था त्रिस्तुतिक सकल सङ्घ की ओर से होती है ।

जब से यह तीर्थ सकल सङ्घ के निर्देशन में आया तब से इसका विकास द्रुतगति से हुआ । यात्रियो की सुविधा हेतु यहाँ दो धर्म-शाला तथा अन्य सब साधन प्राप्त हैं । जिनालय के समीप ही श्रीमद्गुरुदेव की समाधी भी है । इस तीर्थ की उन्नति का श्रेय गुरुदेव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म० को ही है । और उनश्री ने ही उन्नति की सीमा पर इस तीर्थ को पहुँचाया ।

यह तीर्थ संघवी लूणाजी ने त्रिस्तुतिक श्रीसघ को सौपा जिसका लेख मन्दिर प्रवेश द्वार पर लगा है जो इस प्रकार है ।

॥ ॐ अर्हन्नमः श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय बीसा पोरवाड़ संघवी दल्लाजी सुत लूणाजी-नेमचन्द चम्पालाल ने श्रीशत्रुंजय तीर्थ-दिग्यात्रा फलार्थ श्री मोहनखेड़ा तीर्थ स्थापन किया, और संवत् १९४० मार्गशीर्ष सुदि ७ गुरुवार के दिन सित पट जैनाचार्य

विहार और संघ यात्राएँ

卐

जैन साधु वर्षाकाल में एकत्र निवास करते हैं। शेषकाल में नगरों और ग्रामों में मुनिमर्यादानुसार विहार-भ्रमण करते हैं। वास्तव में पदविहार मुनि के जीवन में नानाविध अनुभव और चारित्र शुद्धि का भी हेतु है। एकत्र निवास से साध्वाचार की जड़ें खोखली होने की संभावना होती है। गृहस्थों का सतत् परिचय असंगता का घातक और मोहोत्पादक भी हो सकता है, अतः गुरुदेव कहा करते—

बहता पानी निरमला, पड़या गंदिला होय।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय॥

श्रीमद् गुरुदेव जीवन के अन्तिम सप्ताह तक साधु मर्यादा अनुसार विचरण करते रहे। किसी एक प्रदेश या क्षेत्र में कभी आप जम कर नहीं रहे। क्रियोद्धार के पहले यति अवस्था में महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, भेरवाड़ा और बिकानेर तक क्षेत्रों में आपने विचरण किया। क्रियोद्धार के पश्चात्

मालवा— मांडवगढ़, तालनपुर, मक्षी, उज्जैन आदि।

जब कभी मालवा से मारवाड़ या मारवाड़ से मालवा पधारे तब श्रीकेशरियानाथजी की यात्रा अवश्य होती। मालवा में मक्षी और मांडवगढ़ की अनेक बार यात्राएँ की। क्रियोद्धार के बाद ४ बार आपने सिद्धाचलजी की यात्राएँ की। दो बार गिरनार की यात्राएँ की। ७ बार श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथजी की यात्रा की। सिद्धाचल की प्रत्येक यात्रा में आपने तेले का तप किया। गिरनार की यात्रा के अवसर पर बेले का तप किया। श्रीकेशरियाजी एवं शखेश्वर में एक-एक अट्ठाई का तप किया। श्रीमक्षी पार्श्वनाथ में ५ बार तेले का तप किया।

तीर्थ यात्राएँ

(१) वि. सं. १९४४ का वर्षावास थराद में था। तब व्याख्यान में आपने प्रसंगवश श्रीसिद्धाचल तीर्थ का महात्म्य फरमाते हुए कहा—

जिस प्रकार नदियों में गंगा और सतियों में सीता श्रेष्ठ हैं वैसे ही सब तीर्थो में श्रीशत्रुंजय तीर्थ पवित्र है। पन्द्रह कर्मभूमियों में इस तीर्थ की बराबरी करने वाला अन्य तीर्थ नहीं है। तब ही कहा है—

सम्मत्तं सत्तुंजे, सच्चं सामाइयं च सव्वण्णु।।
साहुत्तं सुत्ता सवणं, सत्त ससा दुल्लहा होंति।।

सम्यक्त्व, शत्रुंजय, सत्य, सामायिक, सर्वज्ञ-भगवान् साधुता और शास्त्र-श्रवण ये सात सकार परम दुर्लभ होते है।

(२) मालव के ग्राम कडोद में खेताजी वरदाजी पोरवाड रहते थे। लक्ष्मी पुत्र थे। गुरुदेव के वे परम भक्त थे। लुटेरों ने उनके घर धाड डाली। ८०००० का माल ले गये। दोनों भाइयों के मन पर उदासी थी। वे राजगढ़ आये। उन दिनों गुरुदेव राजगढ़ बिराज रहे थे। व्याख्यान हो रहा था, वे फरमा रहे थे। जीवन की शोभा सदाचार है। शरीर की शोभा आँख है और प्राप्त धन की शोभा दान और सातक्षेत्रों में व्यय है। जो व्यक्ति लक्ष्मी का सुपात्र में और सन्मार्ग में व्यय नहीं करता वह मधु के छत्ते से भगा दी गई मधुमक्खी के समान हाथ घिसता रह जाता है। परिग्रह का संचय सद्व्यय से ही शोभा देता है। जो खर्च नहीं करता उसकी लक्ष्मी राजा चोर या अग्नि के आधीन हो जाती है। दोनों भाइयों ने निश्चय किया यदि गया धन आ गया तो सद्-व्यय करेंगे। भवितव्यता थी कि ३महिनों के बाद ही चोर रक्षकों की गिरफ्त में आ गये। इनका धन इनको मिल गया। अपने निश्चय के अनुसार दोनों भाइयों ने अपने ग्राम में सशिखर जिना-लय बनवाया। श्रीसिद्धाचलजी का संघ निकाला इन दोनों कार्यो में डेढ़ लाख रुपये खर्च किये। मारवाड के नगर आहोर के उपा-श्रय (धर्मशाला) मे श्वेत संगमरमर का श्रीराजेन्द्रजैनागम बृहत् ज्ञान भंडार बनवाया।

(३) मालवे के नगर खाचरोद में उस समय लूणावत परिवार स-म्पन्न और भक्त परिवार था। इस नगरके निवासियोंने अनेक बार हजारों लाखों का सद्व्यय किया है वि. सं. १९५४ में गुरुदेवश्री खाचरोद पधारे तब लूणावत चाँदमलजी ने मांडवगढ़ और मक्षी

चातुर्मास और धर्मकार्य

卐

वि. सं. १९०४ के वैशाख सुदि ५ को कुछ अधिक बीस वर्षों की भरी जवानी में भरा पूरा और स्नेहिल परिवार छोड़कर आप रत्नराज से रत्नविजयजी हुए और उम्र के ४१ वें वर्ष में श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी हुए। राजपूताने–राजस्थान के पूर्वद्वार भरतपुर में जन्मे रत्नराज ने मरुधर मेवाड़ और मालवे की जनता को यतियों की तानाशाही के पैरों तले दबता और आहें भरता देखा। धर्म के लिबास में ढोंग और धत्तींगों को फलता फूलता देखा।

यह वह अरसा था जब भारत की जनता अपनी आजादी को दबाए बैठे अंग्रेजों और फिरंगियों को भगा देने के लिये उतावली हो रही थी। भारत माता का प्रत्येक अंग (भाग) पराधीनता की जंजीर को तोड़ने के लिये तड़प रहा था। तब रत्नराज से रत्नविजयजी हुए मुनिवर तन और मन से यति हुए। उन्होंने जीवन को सत्य के उजियारे मे लेजाना उचित समझा। यतियो के

और निष्काम उपासना के प्रबल प्रचारक श्रीमद्‌गुरुदेव ने क्रांति की मशाल को प्रज्ज्वलित किया तो समाज आमूल बदल गया। जब से वे साधु जीवन में आये भारत के विस्तृत भूभाग का भ्रमण किया। चातुर्मासों के स्थानों के नामों को देखने से पता लगता है कि कभी-कभी तो एक से दूसरे स्थान का अन्तर पांच-पांच सौ मील से भी अधिक रहा है। उस जमाने में सड़कों का फैलाव भी आज जितना विस्तृत नहीं था, तब साधुसंघ को विहार काल में किन-किन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा होगा, यह तो भुक्त भोगी ही जान सकता है।

दीक्षा के बाद आप सब मिला कर गुनसाठ वर्षों तक जिये। पहले वर्षावास से इक्कीसवें वर्षावास तक आप यतिजीवन में रहे। इस काल में आपने अनेक ग्राम नगरों का भ्रमण किया और अध्ययन के लिये अपने गुरुदेव श्रीप्रमोदसूरिजी के पास और उनकी आज्ञा से खरतर गच्छीय मुनिश्रीसागरचन्द्रजी म० के पास तथा तपागच्छीय श्रीपूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिजी के पास रहे। विद्या की समस्त शाखाओं में प्राविण्य प्राप्त करके, आपने यति-शिष्यों को निरंतर पांच वर्षों तक पढाया। पचास से अधिक यति-शिष्यों ने आपके पास अध्ययन किया था। यति-जीवन में आपने निम्न स्थानो पर चातुर्मास किये—

१९०४-आकोला, १९०५-इन्दोर, १९०६-उज्जैन,
१९०७-मंदसौर, १९०८-उदयपुर, १९०९-नागौर,
१९१०-जेसलमेर, १९११-पाली १९१२-जोधपुर,
१९१३-किशनगढ़, १९१४-चितौड़, १९१५-सोजत,

इस प्रकार यति जीवन में इक्कीस चातुर्मास और साधु जीवन में उनचालीस चातुर्मास किये। सब मिलाकर ६० चातुर्मास हुए। क्रियोद्धार के बाद के सब चातुर्मास और शेष काल का समय उपदेश, स्वाध्याय, चिन्तन, अनुप्रेक्षा, अध्ययन, लेखन और चर्चा विचारणा मे ही व्यस्त रहा। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर आराधना--अनुष्ठान और धर्मकार्यो का एक ऐसा प्रवाह चला कि कि जिसमे चतुर्विध सघ का प्रत्येक सदस्य स्नात हो रहा था। जिनालयों के जीर्णोद्धार, नूतन जिनालयो की स्थापना, हजारों जिन प्रतिमाओ की अजनशलाका, उपधान, उद्यापन, सघ यात्राएँ, शिष्य शिष्याओ को अध्यापन के अलावा शिथिलाचार का निवारण और निरलस जीवन उनके जीवन का चमकता और दमकता पक्ष है।

श्रमण सस्कृति का प्रधान गुण है दोष निष्कासन और गुण धारण। इस सस्कृति जैसी विषपायी और सुधावर्षी सस्कृति अन्य नही है। इस सस्कृति के उद्गाता और प्रवर्तको ने तथा सवाहको ने कष्टो का जहर पिया और अमृत बाटा है। श्रीमद्गुरुदेव के जीवन मे भी यही हुआ। उन्होने कष्ट और सताप परिषह और यातनाओ का जहर पिया और जिनवाणी का अमृत बॉटा है। काटो की पीडा सह कर फूल का पराग बाटा है। उनका हर कार्य और हर व्यवहार वर्तमान और भावी पीढियो के लिये कल्याणप्रद होता था। समस्त पक्षो विचारो और तथ्य के प्रकाशन मे श्रीमद्गुरुदेव के जीवन कार्यो की

प्रतिष्ठाएँ

卐

इस दुनियावी वातावरण में हमे अपनी असावधानी से कुछ ऐसी परम्पराओ, मान्यताओ और कुछ ऐसे विचारो ने ऐसी मजबूती के साथ जकड लिया है कि हम अपने विकास और प्रगति के लिये कुछ भी सोचने को समर्थ नही हो पा रहे है। जिसका परिणाम यह हो गया कि हमे अपना विकास का मार्ग दिख भी नही रहा है। जैन भाषा में इसे ससार जीवन कह सकते है। यह जीवन आत्म-विचारो के लिये रोध पैदा करता है। कषायों और राग-द्वेषादि के कारण ससार अवस्था के ताने-बाने मजबूत होते जाते है, जो हमे नापसन्द है। पर विवशता है कि इनका साथ किये बैठे है। इस विवशता से स्वाधीनता की हवा में सास लेने की एक तमन्ना हम दबाये बैठे है। इस तमन्ना को पूरा करने के लिये ठोस और सशक्त आलम्बन की खास आवश्यकता है। अच्छे स्वास्थ्य के लिये पुष्ट और रुचिकर भोजन, अच्छे जीवन के लिये नम्रता, शालीनता आदि आवश्यक है उसी प्रकार राग-द्वेषादि, कषायादि से जीवन को मुक्त करने के लिये अराग प्रतीक का आलम्बन सजीव और सशक्त है। जैन विचार-गगा की दोनो धाराओ के विचार अराग प्रतीक के आलम्बन के लिये



तप उसमें आपका बल था। अतः सारे कार्य समय पर और व्यवस्थित होते गये। प्रतिष्ठाओं मे शुभ समय का निर्धारण भी एक गहन काम है। श्रीमद्गुरुदेव स्वयं ज्योतिष के अच्छे अनुभवी ज्ञाता थे। अतः शुभ क्षण के निर्धारण मे किसी असंभाव्य की संभावना कभी रही नहीं। समय-समय पर आपने मालवा मारवाड़ में अनेक ग्राम नगरों मे प्रतिष्ठाएँ करवाई जिनमें जावरा खाचरोद राजगढ़ कुक्षी मोहनखेडा और झाबुवा मारवाड़ में आहोर सियाणा कोरटा और शिवगंज की अंजनशलाकाओं और प्रतिष्ठाओ मे उत्पात करने वालो ने उत्पात करने के प्रपंच किये पर वे सफल मनोरथ नहीं हो पाये। तप और त्याग के सामने प्रपंच और उत्पात अल्प जीवन होते है। यही हुआ। जिन जिन स्थानो पर आपने प्रतिष्ठाएँ करवाई उनका हमे जो विवरण मिला उस अनुसार वह इस प्रकार है।

१—जालोर के पास स्थित स्वर्णगिरि पर्वत पर अष्टापदावतार चौमुख मन्दिर, यक्षवसति महावीर जिनालय, कुमारवसति-पार्श्वनाथ जिनालय ये तीन जिनालय प्राचीन है। इन पर शासकीय कर्मचारियों ने आधिपत्य करके शस्त्र और बारूद भर दिया था। वि. सं. १९३३ के ग्रीष्म मे श्रीमद्गुरुदेव आतापना लेने के लिये पर्वत के किले मे पधारे। शिखरों के दर्शन से आप समझ गये। किल्लाधिकारी विजयसिंह से मिलकर आपने जिनालयों मे प्रवेश किया। आशातना और स्थिति देखकर आँखों से आँसू टपक गये। आठ महिनों तक परिश्रम करके राज्याधिकार से मन्दिर को मुक्त करवाया। सं. १९३३ के माघ शुक्ला १ को तीनों जिनालयों की पुनः प्रतिष्ठा की।

२— जावरा [मालवा] में पारिख छोटमलजी जुहारमलजी के वनवाये श्री ऋषभदेवजी के जिनालय की प्रतिष्ठा और ३१ जिन बिम्बो की अजनशलाका की।

३— कुक्षी [धार] के प्राचीन श्री शान्तिनाथ जिनालय का जिर्णोद्धार करवाया व २४ देवगृहो मे बिराजमान करने के लिये सं० १९३५ के वैशाख शु. ७ को प्रतिमाओं की अजनशलाका एवं प्रतिष्ठा की।

४— आहोर [राज.] के श्रीसघ के बनवाये सौधशिखरी जिनालय में वि. स. १९३६ के माघ शुक्ला १० के दिन सोत्सव प्राचीन और परम प्रभावी श्री गौडीपार्श्वनाथ प्रभु की दिव्य, भव्य और मनोहर प्रतिमाजी बिराजमान की।

५— श्री मोहनखेडा तीर्थ, राजगढ़ [धार-म.प्र.] से डेड़ मील पश्चिम दिशा में श्री सिद्धाचल दिशी वन्दनार्थ आपके उपदेश से राजगढ निवासी पोरवाड शा. लूणाजी सघवी के किये विशाल उत्सव मे ४१ जिन बिम्बो की प्राण प्रतिष्ठा की तथा श्रीआदिनाथादि जिन बिम्बो की प्रतिष्ठा की।

६— धामणदा [धार] मे स १९४० भा. सु. ३ के दिन श्री ऋषभदेवादि जिन बिम्बो की प्रतिष्ठा की।

७— दशाई [धार] मे स १९४० फा सु ७ को श्रीआदिनाथादि ९ जिन प्रतिमाओ की अजनशलाका और जिनालय में प्रतिष्ठा की।



८—शीवगंज (राजस्थान) में सं.१९४५ के माघ सुदि५ के दिन मेघाजी मोतीजी और वनाजी मोतीजी के बनवाये श्रीअजितनाथ-जी और चौमुखजी के जिनालय के लिये तथा अन्य ग्राम नगरो के लिये दौ सौ पच्चास जिन बिम्बो की प्राण प्रतिष्ठा की और उक्त दोनो जिनालयो की प्रतिष्ठा की इस प्रतिष्ठा उत्सव मे कुछ ईर्ष्या दग्ध यतियों ने जनता में भय और भ्रम फैलाने के लिये अग्नि आदि के उपद्रव किये थे, किन्तु सावधानी और तप प्रभाव से वे परेशां होगये थे ।

९—कुक्षी (मालवा) मे वि स १९४७ के वै शु ७ को श्रीआदि-नाथ जिनालय चौइस देवकुल्किाओ के लिये ७५ जिन प्रतिमाओं की अजनशलाका की और दो जिनालयो की प्रतिष्ठा की ।

१०— तालनपुर तीर्थ (म०प्र०) मे वि. स.१९५० के माघ वदि२ को जमीन से निकली प्राचीन पच्चास जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा और श्रीपार्श्वनाथजी के चरणयुगल की प्रतिष्ठा की ।

११—खट्टाली (मालवा) मे वि सं १९५० के माघ सु.२ नूतन जिनालय मे बिराजमान करने के लिये तीन प्रतिमाओ की अंजन-शलाका की और उन्हे जिनालय में बिराजमान किया ।

१२—रिगनोद (मालवा) मे वि. सं. १९५१ के मा० सु० ७ को नूतन जिनालय के लिये श्री चन्दाप्रभु आदि ७जिनप्रतिमाओं की अजनशालाका की और उन्हे जिनालय मे प्रतिष्ठित किया ।

१३—झाबुवा (मालवा) में बावन जिनालय समलंकृत श्रीऋषभ देव जिनालय के लिये दो सौ एकावन २५१ जिनप्रतिमाओ की अजनशलाका की और जिनालयों की प्रतिष्ठा की ।

१४—बडी कडोद [मालवा] में खेताजो वरदाजी के पुत्र उदय-चन्दजी के बनवाये सौधशिखरी जिनालय मे विराजमान करने के लिये स० १६५३ के वै. सु. ७ को श्रीवासुपूज्यप्रभु आदि की १५ प्रतिमाओ की अजनशलाका की और दो जिनालयो की प्रतिष्ठा की ।

१५—पिपलोदा [मध्य भारत] मे स १६५४ वै. सु ७ को श्री सुविधिनाथादि जिन बिम्बो की प्रतिष्ठा की ।

१६—राजगढ़ [धार] वि स. १६५४ मार्ग शु १० को श्री शान्तिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा की ।

१७—आहोर [राज०] श्रीगौडीपार्श्वनाथ जिनालय की बावन [५२] देव कुलिकाओ के लिये तथा अन्यत्र ग्राम नगरो मे विराजमान करने के लिये नौसौ एकावन छोटे बड़े जिन बिम्बो की अजनशलाका की । यह विशाल और विराट् तथा अनुपम महोत्सव वि स. १६५५ को फा वदि ५ गुरुवार को हुआ था। इस महोत्सव मे मालवा मारवाड आदि देशो की ३५ हजार जनता आई थी । इस प्रतिष्ठोत्सव के अवसर पर श्रीमद्गुरुदेव के सहपाठी और अन्य विद्याशिश्य ऐसे अनेक यति भी आये थे । श्रीमोतीविजयजी, श्रीरूपविजयजी, फतेसागरजी और ज्ञानसा-गरजी मुख्य थे । प्रतिश्ठा उत्सव का जल्सा और सघ में गुरुदेव के प्रति आदर स्नेह और भक्ति देखकर यतिगण आश्चर्य मे पड गया । क्रियोद्धार के दिन यति श्रीमहेन्द्रविजयजी ने गौरवपूर्ण उज्ज्वल भविष्य का सकेत दिया था । वह सार्थक देखा ।



१८— सियाणा (राजस्थान) मे परमार्हत महाराज कुमारपाल के बनवाये श्री सुविधिनाथ चैत्य के चारों ओर श्रीसंघ निर्मित देवकुलिकाओं के वि. सं. १९५८ के माघ सु. १३ गुरुवार को महोत्सव सहित श्रीअजितनाथादि दौ सो एक जिन प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा करके उनको मन्दिर में यथास्थान विराजमान करवाये।

इस प्रतिष्ठा उत्सव में ८० फुट ऊंचा सुमेरु पर्वत बनाया गया था, जिसको किसी मनजले तात्रिक ने तंत्र प्रयोग से गिराने की हरकत की थी। समय पर श्रीगुरुदेव सावधान रहे अत. जन और धन की हानि नही हुई।

१९— कोरटा तीर्थ (राज.) मे श्रीआदिनाथादि प्राचीन प्रतिमाओ की नवनिर्मित विशाल जिनालय मे प्रतिष्ठा तथा अन्य स्थानो के लिये वि स. १९५९ के वै. शु. १५ दो सो एक जिन प्रतिमाओं की अजनशलाका की।

२०— आहोर (राजस्थान) मे स १९५९ के माघ वदि १ को श्रीराजेन्द्रसूरि धर्म क्रिया मन्दिर मे स्थित श्रीशान्तिनाथ गृहचैत्य मे सर्वधातु की श्री शान्तिनाथ जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की। इसी दिन कडोद [मालवा] निवासी शा खेताजी वरदाजी के उदय-चन्दजी के बनवाये श्रीराजेन्द्र जैनागम बृहत् ज्ञान भडार में ज्ञान प्रतिष्ठा की।

पाहोर का यह ज्ञानागार विशाल है। इसमें लगभग १५०० हुस्तघ्नितिग्री और १० हजार मुद्रित ग्रन्थो का सग्रह है। इस

ज्ञानागार में अनेक दुर्लभ प्राचीन और कलाकृतियों से सज्जित प्रतियाँ भी है।

२१—गुडा बालोतान् [जि जालोर] में शा अचलाजी दोलाजी के बनवाये जिनालय में वि स १९५९ के माघ सु ५ को श्री धर्मनाथादि जिन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा की।

२२— बाग [म प्र. धार] मे वि. स १९६१ के मग. सु. ५ के दिन श्रीविमलनाथादि सात जिन बिम्बो की प्राण प्रतिष्ठा और जिनालय में प्रतिष्ठा की।

२३—राजगढ़ [धार] में सं. १९६१ के मा सु ५ को खजांची दोलतराम चुन्निलालजी के बनवाये श्रीअष्टापदावतार-चैत्य में विराजमान करने के लिये तथा अन्य ग्रामों के लिये श्रीऋषभ-देवादि एकावन [५१] जिन बिम्बो की प्राण प्रतिष्ठा और अष्टापद चैत्य की प्रतिष्ठा की।

२४—राणापुर [मालवा] के श्वेताम्बर श्रीसंघ के बनवाये विशाल जिनालय मे विराजमान करने के लिये वि स. १९६१ के फा सु ३ को श्रीधर्मनाथादि ग्यारह जिन जिन-प्रतिमाओं की प्राण प्रतिष्ठा और जिनालय मे उनकी प्रतिष्ठा करवाई।

२५—सरसी [मालव] मे सशिखर चैत्य मे वि. सं १९६२ के ज्येष्ठ सु ४ को श्रीचन्द्रप्रभु आदि जिन बिम्बो की प्रतिष्ठा की।

२६—राजगढ [मालवा] मे शा. दोलतराम हीराचन्दजी के बनवाये गुरु मन्दिर मे वि स १९६२ के मग. सु. २ के दिन श्रीपार्श्वनाथादि जिन बिम्बो की प्रतिष्ठा की।





२७—जावरा [मालवा] मे शा. लक्ष्मीचन्दजी लोढ़ा के बनवाये चैत्य में वि. सं. १९६२ के पौष सु. ७ को श्रीशीतलनाथादि जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की।

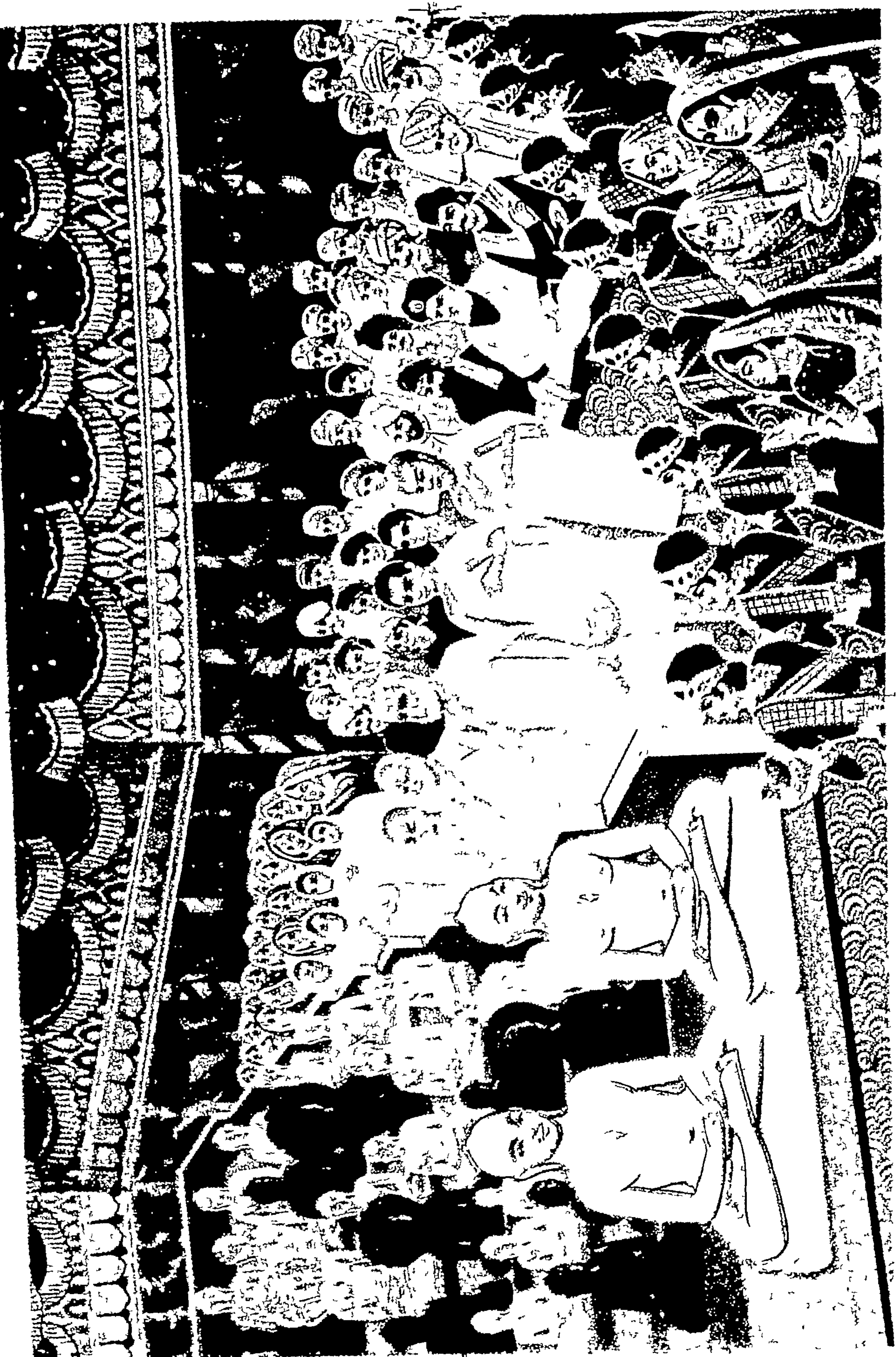
हमारे संग्रह के एक हस्त पत्र के अनुसार (३१३५) तीन हजार एकसौ पैंतीस जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका श्रीमद् गुरुदेव के हाथो हुई।



श्री अभिधान राजेन्द्र : एक झलक

卐

शब्द दिखने मे छोटा होता है। शरीर से निर्बल होता है, परन्तु शक्ति मे महत् होता है। प्रत्येक शब्द अपने मे अनेक अर्थ रखता है। परस्पर विरोधी भावो को भी वह अपने मे समाये रखता है। शब्द की इस शक्ति को खोलता है कोष। कोष में शब्द का अर्थ, उसका मूल, विकास, प्रयोग और उसकी व्यर्थता एव अव्यर्थता आदि का निरुपण होता है। शब्दो के जो अर्थ काल के अन्धकार मे डूब जाते हैं और अपने मूल अर्थ को भी कदाच खो बैठते है, तब कोषकार उन शब्दो को पकडकर उन पर से निकेम्मेपन को तराशकर उन्हे मूल रूप मे प्रकट कर देते हैं। कोषकार शब्दो को निर्ग्रन्थ रूप मे देखते है। उनके व्यक्तित्व को परख कर पहचानते है। शब्द योगी यदि यह काम नही करते तो शब्द अपने मूल अर्थ को खोकर निर्धन - गरीब भी होसकते है, कभी निस्तेज भी हो सकते और कभी निकम्मे भी।



मनीषियो ने सैकड़ों वर्षों पूर्व ही कोष साहित्य का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। जैन मुनिवरो और जैन पण्डितों के ही ३०-३५ से अधिक छोटे-बड़े कोष उपलब्ध है। कोष का अर्थ है खजाना। कोप--ग्रन्थों मे शब्दो के पर्यायों और अर्थों का सचय होता है। कोषकारो की गौरवमयी परम्परा के एक प्रोज्ज्वल व्यक्तित्व है— पूज्य गुरुदेव श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। ज्ञान, ध्यान और साधनाके मार्ग मे लीन गुरुदेव के सामने शब्दों के अर्थ निर्णय मे किसी के द्वारा धाधली हुई है जिसकी पीड़ा से उनका अन्तर दु.खी हुआ था। उनकी इस पीड़ा ने उमके सुख चैन मे झझावात ला दिया था। अनेक रातो तक अपनी पीडा से वे बहस करते रहे। आखिर रास्ता निकल आया। हृदय, मस्तिष्क और नाभि ये तीनों केन्द्र अपने-अपने क्षेत्र में महान् है। भावो का केन्द्र हृदय है, विचारो का केन्द्र मस्तिष्क है और सकल्प का केन्द्र नाभि है। विचारो और भावों के साथ जब सकल्प जुडता है तो बडा अनूठा सर्जन होता है। गुरुदेव ने विचार और भाव को सकल्प की गगा में स्नान करवाया होगा और विचारो को भावो की स्याही से सकल्प के पन्नो पर लिखा होगा तब ही विराट् और विशाल कोप आकार धर पाया है। शब्द कोषो की परम्परा मे एक विशिष्ट, यथार्थ और महान् उपलब्धि है— "अभिधान राजेन्द्र"। इस कोप से पहले समस्त कोषकारो ने पद्यो मे या वर्ग पद्धति पर रचनाए की है। उनने शब्दो के अर्थ पर्याय, लिग निर्देश और कही-कही व्युत्पत्ति भी की है। परन्तु अभिधान राजेन्द्र उस पद्धति का कोष नही है।

यह तो अकारादि क्रम से शब्द संदर्भ और उसका व्याख्याओं का प्रतिपादक है। लगभग अस्सी हजार शब्दों का विराट् संकलन है। इनमें से अधिकांश शब्दों की व्याख्याओं के साथ निरुक्तियाँ भी है।

वि. सं: १९४६ में मारवाड के कस्बा सियाणा में जब आपने अभिधान राजेन्द्र का पहला अक्षर लिखा तब आपकी उम्र का तिरसठवाँ वर्ष था।

बड़ों बूढ़ों और अनुभवियों का बिचार है कि आदमी साठ के आस-पास पहुँचते-पहुँचते सठिया जाता है। उसका सारा शरीर और मस्तिष्क शक्ति के बिखराव का शीकार हो जाता है। उसकी स्फूर्ति स्मृति और शक्ति मे गडबडी आ जाती है, मात्र जीवन जीने के लिये वह जिन्दा होता है। परन्तु श्रीमद्गुरुदेव के जीवन मे यह बिखराव उम्र के अन्तिम दिन तक नहीं आया। जीवन का तिरसठवा वर्ष उनके जीवन का स्वर्णिम पृष्ठ रहा। तीन का अक उनके जीवन मे क्रात दर्शन का प्रतिनिधी रहा है। "अभिधान राजेन्द्र,, के निर्माण का निर्णय-संकल्प अपने आप में समिचीन अत्यावश्यक और नितान्त जरूरी था।

गुरुदेव तपोधन मुनि थे। स्वभाव के प्रत्येक चप्पे में वे अपरिग्रह को अपनाये हुए, सच्चे मानो में निर्ग्रन्थ होने को जन्मे थे। और वे निर्ग्रन्थ थे। तब कोष का यह परिग्रह क्यो किया! विशाल शब्द कोष के मोहजाल मे क्यों पड़े! पर बात ऐसी नहीं है। उन्हें शब्दो के अर्थो के साथ होता खिलवाड अखरा, उन्हें शब्दों के

अर्थो की खीचतान मे वास्तविकता की मृत्यु का आभास हुआ अत. यह श्रम करना पड़ा। उनके अपार श्रम का सुफल है यह 'अभिधान राजेन्द्र'। यह एक विशाल कार्य था। किसी एक व्यक्ति की सीमामे यह हो सकता है ? यह प्रश्न होता ही रहता है। शास्त्रो, ग्रन्थों और प्रकरणो का कोशीय अनुशासन में मे आकलन हुआ। निर्धारित योजना में शब्दों का न्यास होता रहा। शिष्यो और भक्तो ने प्रतियां लिखने—लिपी करने में गुरु को अपना श्रम अर्पित किया। अस्सी हजार शब्दों को उनके मूल अर्थो, संदर्भो और व्याख्यादि सहित कोषस्थ किया। दस हजार पाच सौ छियासठ पृष्ठों का यह कोष वस्तुत: एक विशाल विश्व कोष है।

'एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका' अनेक विद्वानो के श्रम का फल है और दीर्घ काल लगा है इसके सम्पादन -- आकलन में, तब अभिधान राजेन्द्र को बनाने में कुल मिलाकर ४८६३ चार हजार आठ सौ तिरसठ दिन-रात का समय लगा है। तेरह वर्ष ६ माह और तीन दिन की स्वल्प अवधि मे इस विराट् और विशाल कोष का प्रणयन वस्तुत गत शताब्दि की विशिष्ट और महान् उपलब्धि है। इस कोष-की अपनी विशेषताएँ है। कोष मे यदि शब्दो के अर्थो का सग्रह करके ही सतोष किया जावे तो वह मात्र शब्दो का सग्रह-स्थल हो जाता है। अभिधान राजेन्द्र मे शब्दो के पर्यायो के साथ उनकी निरुक्तिया भी दी है, जिससे शब्द और भाषा की गरिमा तथा यथार्थता का बोध सहज हो गया है। अभिधान राजेन्द्र के सातों भागो मे अनेक शब्द है कि

जिनकी निरुक्तियों में धर्म और दर्शन की आत्मा बोल रही है। सातों भागो में सैकडों ऐसे भी शब्द है कि जिनके माध्यम से जैन धर्म दर्शन का सार्वभिक अध्ययन हो सकता है। सातों भागों के ऐसे कुछेक शब्द है—

—: प्रथम भाग :—

अणेगंतवाय-अनेकांतवाद पृ. ४२३/४१। अत्त-आप्त ४९९/५००
अत्थिवाय—अस्तिवाद पृ. ५१९/२४। अदत्तदाण ५२६/४०।
अप्पा-आत्मा ६१६। अपुणवधय-अपुनर्बन्धक ६०६/१०।
अप्पाबहुय-अल्पाबहुत्व ६१७/७२। अरहत-अर्हन्त ७५५।
अरिट्ठनेमि-अरिष्टनेमि ७६२/६७। अरिहत-अर्हत् ७६७/८।
अरुह-अर्हत् ७७०। अलियवयण ७७३/८४।
असज्झाइय-अस्वाध्यायिक ८२७/३५। अहिसा ८७१/८३।

—: दूसरा भाग :—

आगम ५१/८०। आणा-आज्ञा ११४/२४।
आणुपुव्वी-आनुपूर्वी १३०/५२। आता-आत्मा १८७/२३३।
आयरिय-आचार्य ३०५/३८। आरम्भ ३६२/३७१।
आराहणा-आराधना ३८३/३८७ आलोयणा-आलोचना ४००/३७
आसायणा-आशातना ४७८/४८३।

—: तीसरा भाग :—

कज्जकारणभाव-कार्यकारणभाव १८७/२०१।
कम्म-कर्म २४३/३३४। करण ३५९/३७२।





कसाय-कषाय ३६४/४०० । काउसग्ग-कायोत्सर्ग ४०४/४२८ ।
किरिया-क्रिया ५३१/५५२ । केवलणाण-केवलज्ञान ६४२/६५१
खंध-स्कन्ध ६६८/७०१ । गच्छ ८००/५ । गणधर ८१५/२० ।
गुण ९०५/१३ । गुणट्ठाण- गुणस्थान ९१३/९२७ ।
चित्तसमाहिट्ठाण-चित्त समाधि स्थान ११८३ ।
चेइय-चैत्य १२०५/१२९२ ।

चौथा भाग

जागरिया-जागरिका पृ १४४८ । जिण-जिन १४५९/६२ ।
जिणसासण-जिनशासन १५०६/७ । जीव १५१२-४६ ।
जीवट्ठाण-जीवस्थान १५४७/५२ । जीवत्थिकाय-जीवास्तिकाय
१५५३ । जोग १६१३/३८ । झाण-ध्यान १६६१/७३ ।
ठवणा-स्थापना १६७९-८४ । ठाण-स्थान १६९३-१७१५ ।
णमोक्कार--नमस्कार १८१९/५१ । णय--नय १८५२/१९०१ ।
णाण--ज्ञान १९३७/८४ । निगोय--निगोद २०२९/३३ ।
णिग्गथ--निर्ग्रन्थ २०३३/४६ । णिज्जरा--निर्जरा २०५६/५९ ।
णियट्टि--निवृत्ति २०९१/९२ । णिव्वाण--निर्वाण २१२१/२८ ।
णिसीहिया--निशीथिका २१४४/४७ । तत्त--तत्व २१८० ।
तव--तप २१९९/२२०५ । तित्थ--तीर्थ २२४२/४६ ।
तित्थयर-तीर्थङ्कर २२४७/२३१२ । तेउलेस्सा-तेजोलेस्या २३४९
थुइ--स्तुति २४१३/१४ । दसण--दर्शन २४२५/३७ ।
दव्व--द्रव्य २४६२/६६ । दिट्ठिवाय-दृष्टिवाद २५१२/१६ ।
धम्म--धर्म २६६३/२७१० ।

--: पाँचवा भाग :--

पएस--प्रदेप पृ. २२/२७ । पच्चक्ख--प्रत्यक्ष पृ. ७३/८४ ।
पच्चक्खाण--प्रत्याख्यान ८५/११६ । पच्छित्त-प्रायश्चित्त १२६ ।
पज्जति--पर्याप्ति २१०/११ । पज्जाग्र--पर्याय २३०/३४ ।
पज्जोसवणाकप्प-पर्युषणाकल्प २३५/५५ । पडिक्कमण-प्रतिक्रमण २६१/३२० । पडिमा--प्रतिमा ३३२/३५ । पण्णवणा--प्रज्ञापना ३८५/८८ । पमाण--प्रमाण ४४३/७७ । पमाय--प्रमाद ४७६ ।
परिग्गह-परिग्रह ५५२/५६ । परिणाम-परिणाम ५६२/६१४ ।
परिसह--परिषह ६३७/६४८ । पवज्जा--प्रव्रज्या ७३०/७७७ ।
पवयण--प्रवचन ७८३/७८५ । पावा--पाया ८८४/८८७ ।
पास--पार्श्व ८६७/६०४ । पुढवीकाइक--पृथ्वीकायिक ६७३/८६
पोग्गल--पुद्गल १०६७/११०६ । पोरिसी--पौरुषी ११२३/३१ ।
पोसह--पौषध ११३२/३६ । बध--बन्ध ११६४/११६० ।
बधण--बन्धन ११६१/१२३६ । बधमोक्खसिद्धि-बन्धमोक्षसिद्धिः १२४०/१२४७ । बभचेर-ब्रह्मचर्य १२५६/१२६६ । भंत-भगवन् १३३६/१३३८ । भत्तपच्चक्खाण-भक्तप्रत्याख्यान १३४२/१३६० भरह-भरत १३८५/१४७८ । भाव-भाव १४६२/१५०२ ।
भासा-भाषा १५२२/१५५५ । भिक्खु-भिक्षु १५६०/१५७१ ।

--: छट्ठा भाग :--

मगल--मगल ५/१६ । मग्गणट्ठाण-मार्गस्थान ५०/५७ ।
मण--मन ७४/८३ । मणज्जवणाण--मन पर्ययज्ञान ८५/६१ ।

मरण--मरण पृ १०८/१५० । महावीर-महावीर २१३/२१४ ।
मुत्ति--मुक्ति पृ. ३१४/३१८ । मोक्ख--मोक्ष पृ. ४३१/४४७ ।
राइभोयइ-रात्रिभोजन ५०६/५४२ । लेसा-लेश्या ६७५/६६६ ।
लोक--लोक ६६८/७१२ । वग्गणा--वर्गणा ७८५/७६४ ।
वण्ण--वर्ण ८१८/८३० । ववहार--व्यवहार ६०४/६२६ ।
विगई--विकृति ११३२/११३६ । विणय-विनय ११५२/११८१ ।
विहार--विहार १२७५/१३२८ । वीयराय--वीतराग १३३२/३६
वीर--महावीर १३३७/६५ । वेयावच्च--वैयावृत्य १४५१/६० ।

--ः सातवाँ भाग ः--

सकम--सक्रम पृ. ७/७४ । सखेज्जम--सखेयक ६५/७० ।
सघ--सघ पृ ७७/८२ । सघाड--सघाट ८३ । सजम-सयम ८७ ।
संजलण--सज्वलन १०६ । स जोग--सयोग १०७/१२० ।
साठाण--सास्थान १२३/१२७ । साथार--सास्तार १५०/१६५ ।
साभोग--साभोग २०८/२१५ । संलेहणा--सालेखना २१७/२२८ ।
सज्भाय--स्वाध्याय २८०/२६२ । सत्तभगी--सप्तभगी ३१५/१८
सद्दणाय--शब्दनय ३६६/३६६ । समण--श्रमण ४१०/४१२ ।
समाहि--समाधि ४२५/४३१ । समुग्घाय--समुद्घात ४३४/४५७
समोसरण--समवसरण ४६६/८१ । सम्मत्त-सम्यक्त्व ४८२/५०३
समद्दिट्ठि--सम्यग्दृष्टि ५१२/५१४ । सरीर--शरीर ५३४/५५८ ।
सल्ल--शल्य ५६१/५६२ । सव्वण्णु--सर्वज्ञ ५७४/५६२ ।
सागारिय-सागरिक ६०८/१२ । सामाइय--सामायिक ७६६/७४
सावय--श्रावक ७७६/७८४ । सिद्ध--सिद्ध ८२१/८४५ ।
सुण्णवाय--शून्यवाद ६३६/६४१ । सुद्धणाय--शुद्धनय ६५७ ।
सुय--श्रुत ६६६/६६८ । हिसा--हिसा १२२८/१२३४ ।

ऊपर प्रस्तुत शब्द और ऐसे अनेक शब्दों पर अभिधान राजेन्द्र में जैन दर्शन और इतर दर्शनो की जानकारी उपलब्ध है। प्राकृत और सस्कृत भाषा का जानकार कोई भी व्यक्ति इस कोष के सहारे जैन दर्शन के हृत्तल तक सहज ही पहुच सकता है।

विक्रम सं. १९४६ मे दृढ़ मनोबल और सकल्प के साथ अभिधान राजेन्द्र का प्रारम्भ किया गया। सकलन का काम विशाल था। श्रम साध्य था। फिर गुरुदेव एक स्थान निवासी नही थे। ग्रन्थ भडारों के मालिक ग्रन्थों को तहखानो में बन्द रखते थे। जितने ग्रन्थ-सूत्र मिले उन पर से ही काम करना था। परिस्थितिया भी पलटती रही, किन्तु दृढ सकल्प के धनी श्रीमद् गुरुदेव ने प्रारभ के दिन से चार हजार आठ सौ तीसरे दिन कोष का अन्तिम अक्षर लिखा। वि. सं. १९६० के चैत्र शुक्ला तेरस का दिन था। ग्रन्थ की हस्तप्रति तैयार हुई। श्रीमद् गुरुदेव की भावना थी कि ग्रन्थ उनके सामने ही मुद्रित हो जाय। प्रेस तब आविष्कृत हुए ही थे। अत हाथ प्रेसो पर उस जमाने मे काम होता था। अत: यह काम उनश्री के सामने नही हो सका शिष्यो और अनुयायियों की महती सभा मे जीवन के अन्तिम दिन से तीन दिन पूर्व अपने विद्वान शिष्यो मुनि प्रवर श्री दीपविजयजी एंव मुनिप्रवर श्री यतीन्द्रविजयजी के निवेदन पर आप फरमाये थे— --

'अहमात्मीय करणीय पूर्निमनयन. पर येनोपायेन्न निखिललोकोपकार· स्यात् स तु युष्माभि कर्त्तुमर्ह·, किन्तु वयमत्रऽर्थे ताटस्थ्यभुपगता.। —अ रा प्र भा उपोद्घात.।- पृ २

मुझे जो करना था, वह पूरा कर दिया है, अब जिन उपायों से निखिल जनता का उपकार हो, वह तुम करने योग्य हो। अब इस कार्य में हम तटस्थ है।

उस महती सभा मे ही गुरुदेव ने अभिधान राजेन्द्र का सारा कार्य भार मुनिप्रवर श्री दीपविजयजी (श्रीमद्भूपेन्द्रसूरीश्वरजी एवं मुनिप्रवर श्री यतीन्द्रविजयजी (श्रीमद् यतीन्द्रसूरीश्वरजी) को सौप दिया था। दोनो मुनिवरो के कार्य निरीक्षक थे परमगुरु भक्त मुनिवर्य श्री मोहनविजयजी म.। गुरुभक्त थे दोनो मुनिवर दोनो ने इस कोष के मुद्रण की सारी योजना की। दोनों मुनिवरो ने लगातार वर्षो तक श्रम किया। दोनो मुनियों के श्रम मे साथ देने के लिए बडे-छोटे सब मुनिवरो ने बड़ी तत्परता से साथ दिया। साथ देने वाले थे।

श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी म.।
श्रीउपाध्याय मोहनविजयजी म.।
मुनिवर्य श्रीटीकमविजयजी म.।
मुनिवर्य श्रीहुकुमविजयजी म.।
मुनिवर्य श्रीरूपविजयजी म.।
मुनिवर्य श्रीहिम्मतविजयजी म.।
मुनिवर्य श्रीलक्ष्मीविजयजी म.।
मुनिवर्य श्रीगुलाबविजयजी म।
मुनिवर्य श्रीहर्षविजयजी म।
मुनिवर्य श्रीहँसविजयजी म।
मुनिवर्य श्रीअमृतविजयजी म.।

मुनिवरों और श्रीसङ्घ की अपूर्व गुरुभक्ति का सुफल है विराट् कोष मुद्रित हो गया। १७ वर्षो का समय मुद्रण मे लगा। मुद्रित हुआ कोष सात भागो मे विभक्त है। मुद्रित कोप का परिचय तथ्य इस प्रकार है—

ग्रन्थ का नाम— श्रीअभिधान राजेन्द्र

ग्रन्थकर्ता— गुरुदेव प्रभुश्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म०

प्रकाशक—श्रीअभिधान राजेन्द्र प्रचारक सभा, रतलाम (म प्र.)

रचनाकाल— स. १९४६ से १९६०

मुद्रणालय— जैन प्रभाकर प्रि० प्रेस, रतलाम

आकार— सुपर रायल १/४ २५×३५ सेंटीमीटर

भाग— सात

भाषाएँ— मागधी, प्राकृत एव सस्कृत

ग्रंथ सम्पादक— मुनिवर्य श्रीदीपविजयजी एव मुनिवर्य श्रीयतीन्द्र विजयजी

सदर्भ ग्रंथ सख्या— ९७

शब्द भण्डार— ८०००० के आसपास

अधिकार— प्रकाशक और सम्पादको का।

'अभिधान राजेन्द्र' बीसवी शताब्दि मे प्रकाशित समस्त जैन साहित्य मे अपना विशेष और अनूठा स्थान रखता है। भारत और भारतोत्तर देशों के विद्वानो ने अभिधान राजेन्द्र के सहारे अपना अध्ययन गहन किया है। ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता को वे श्रद्धाभर हृदय से कीर्ति-पुष्प अर्पित करते है। विद्वानो की प्रशस्ति गाथा के कुछ पुष्प है—

प्रशस्ति-पुष्प—

--दोहा—

श्रुतसागर मन्थन करी, रच्यो भव्य हित कोष।
विबुध विलोकी चित्त मे, सरस लहे सतोष ॥१॥
प्राकृत अथवा मागधी, जो कौ शब्द चहाय।
हो तो पढ़ लो हाथ ले, मिलसी संशय नाहि ॥२॥
लक्ष आसरे पांच रे, सख्या श्लोक सुजान।
गहन ग्रंथ राजेन्द्र रच, जस लीदो भुवि आन ॥३॥
शब्द सुचि सुन्दर रचि, जचि सहज हिय जास।
पचि परम यह औषधी, करत कर्मरुज नाश ॥४॥

—झूलना छन्द—

धन भूप यति गुरुराज पति, मति स्वच्छ अति कर महनत को।
क्षति गहन हति जिन आगम मे गति शब्द के अर्थ सुलहनत को।
भक्ति गग सुरग अदृष्ट हति, तिनके रस को गहनत को।
राजेन्द्रसूरि धन्यवाद कति, कलिकाल विचै चित्त चहनत को।१।

—दोहा—

होस सदा हिय मे भरण, करण ज्ञान सतोप।
अभिधान राजेन्द्र नित, काव्य रसिक ! पढ कोप ॥१॥
राज, धन, भलभूप, यतिवर ! ग्रथ रच अनमोल यह।
धवल यश लीना जगत मे, क्या करूँ वर्णन अह ॥ २ ॥

—मुनि श्रीमिश्रीमलजी म०

'यह विश्वकोप एक संदर्भ-ग्रंथ की तरह तथा जैन प्राकृत के अध्ययन के निमित्त अतीव मूल्यवान है।

—जार्ज ए ग्रियर्सन

'अभिधान राजेन्द्र' के पाँच वर्षो तक सतत् स्वाध्याय के अनन्तर मै यह कह सकता हूँ कि प्राच्यविद्या का कोई जिज्ञासु इस आश्चर्यजनक ग्रथ की अनदेखी नही कर सकता। अपने विषय क्षेत्र मे इसने कोशविद्या के रत्न पीटर्सबर्ग कोष को भी अतिक्रान्त किया है। इस कोष में प्रमाण और उद्धरणो से पुष्ट न केवल सारे शब्द ही आकलित है, अपितु शब्दो से परे जो विचार, विश्वास और अनुश्रुतियाँ है उनका सर्वेक्षण भी इसमें है। मुझे जब भी कुछ विशिष्ट करना होता है, मैं 'अभिधान राजेन्द्र' के अवलोकन से उसका सूत्रपात करता हूँ और कभी भी ऐसा नही हुआ कि इससे मुझे कोई उपयोगी जानकारी न मिली हो। क्या हिन्दू और बौद्ध धर्मो के क्षेत्र में इसके समानान्तर कभी कुछ हो सकेगा ?

—प्रो सिल्वेन लेवी

'मै स्वर्गीय राजेन्द्रसूरिजी की कृतियो की प्रशसा करता हूँ। विशेपत उनकी कोप क्षेत्रिय उपलब्धि 'अभिधान राजेन्द्र' कोष की करता हूँ।

—आर एल टर्नर

मेरी राय में अभिधान-राजेन्द्र एक विशाल ग्रन्थ है जो भारतीय उद्यम और विद्वत्ता का मस्तक ऊँचा करता है। ग्रन्थ

की प्रमुख विशेषता है उसकी सुसमृद्ध संदर्भ-सामग्री जिससे अब तक सर्वथा अनभिज्ञ था।

—प्रो. सिद्धेश्वर वर्मा

श्रीराजेन्द्रसूरिजी का जीवन सत्यान्वेषण तथा तपश्चर्या का एक महान् उदाहरण है।

—डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन

मै पुरजोर कह सकता हूँ कि जैन शोध के क्षेत्र में कोई भी अनुसन्धानकर्त्ता सूरिजी के अतीव मूल्यवान कोष अभिधान-राजेन्द्र की अनदेखी नही कर सकता। विगत दशकों के शोध और सपादन के कार्य को मै धन्यवाद दूँगा, किन्तु जैन शीर्षकों को लेकर कही कोई इतना बडा कोप है इसकी जानकारी मुझे नही है। मैने जब भी अभिधान-राजेन्द्र का अवलोकन किया है आत्मतुष्ट हुआ हूँ। वास्तव मे यह कोष उस महान् और प्रिय विद्वान् की स्मृति की रक्षा करने वाला स्मारक है।

—वाल्थर शुब्रिग

नि सन्देह श्रीराजेन्द्रसूरीश्वजी एक महान् साधु और विश्व-विश्रुत विद्वान् थे। उनका अभिधान-राजेन्द्र उनकी विद्वत्ता का का और उनकी गतिशील साहित्यिक गतिविधि का स्थायी स्मारक है।

—पी के. गोड

मेरे धर्म मित्र श्रीप्राग्वाट्स्वामी के पास अभिधान-राजेन्द्र के विशद् सात भाग देखकर भारतीयज्ञान-गम्भीर के विद्योदधि

श्रीराजेन्द्रसूरि की इस चमत्कार पूर्ण अद्वितीय सृजन–क्षमता के प्रति सहज ही नतमस्तक होगया हूँ ।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

कोश के विभिन्न भागों के विहगावलोकन मात्र से पाठक को जैन धर्म और दर्शन के अपरिहार्य तथ्यों की जानकारी हो जाती है। जब हम यह कहते है कि कोश के इन भागो में साढे चार लाख श्लोकों और सूत्रों की उद्धरणी हुई है तो हमे इसकी विशालता का सहज ही बोध होता है। कोश में ८०००० शब्द व्याख्यायित है।

—के. ऐ. धरणेन्द्रैया

अभिधान–राजेन्द्र महान् कोश के प्रणेता श्रीमद्विजयराजेन्द्र-सूरीश्वरजी ने स्वयं ही अपना मार्ग प्रशस्त किया और वे दूसरों के लिये पथ-प्रदर्शक बने। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वत्ता और निर्भीकता सराहनीय है। उनके विरचित ग्रन्थ उनके सच्चे स्मारक है।

—गुलाबराय, एम. ए.

जब विद्यालयो में अच्छे अध्ययन-अध्यापन के लिए गोमट्-टसार-जैसे पारिभाषिक लाक्षणिक ग्रन्थो को चुना जाता है, तब इस प्रकार के कोशों की आवश्यकता अधिक अनुभव होती है। बहुतेरे जैन पारिभाषिक शब्दो के उद्धरण तथा व्याख्याओ को खोजने मे रतलाम से सात भागो मे प्रकाशित विजयराजेन्द्रसूरि का अभिधान–राजेन्द्र कोष उपयोगी सिद्ध हुआ है, यद्यपि इसका विस्तार बहुत है।

—डॉ हीरालाल जैन

राजेन्द्र-कोष एक अक्षय्य निधि है। संसार का अनुपम तथा अनूठा साहित्यिक ग्रन्थ है। जैन धर्म या दर्शन विषयक किसी भी अनुसंधान के निमित्त अभिधान-राजेन्द्र एक अपरिहार्यता है।

—भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति तथा चारुकीर्ति

आचार्य प्रवर श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी ने अभिधान-राजेन्द्र नामक महाकोश का निर्माण कर जैन प्रजा के ऊपर ही नहीं, समग्र विद्वज्जगत् पर महान् अनुग्रह किया है। ऐसी महर्द्धिक कृति का निर्माण कर उन्होने विद्वत्संसार को प्रभावित एव चमत्कृत किया है। 'अभिधान-राजेन्द्र'' की रचना के पश्चात् स्थानकवासी मुनिवर श्रीरत्नचन्द्रजी ने 'जिनागम शब्द कोष'' आदि कोश, आगमोद्धारक आचार्य श्रीसागरानन्द ने अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्द कोष, पं हरगोविददास ने 'पाइअसद्दमहण्णवो'' आदि प्राकृत भाषा के शब्द कोष तैयार किये है किन्तु इन सबकी कोश निर्माण की भावना के बीजरूप आदि कारण तो श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि एवं उनका निर्मित अभिधान-राजेन्द्र कोश ही है।

— मुनि पुण्यविजय

आचार्य राजेन्द्रसूरिजी उन महापुरुषो में से है जिनका जीवन ज्ञान की अखण्ड उपासना मे लीन था। चारित्र के साथ ज्ञानबल बहुत तेजस्वी था। अपने जीवन मे उन्होने लगभग ६१ ग्रन्थों की रचना की। उनकी ज्ञानोपासना विविध क्षेत्रों में गतिमान रही है। जन साधारण हित उन्होने बहुतेरे ग्रन्थों की रचना लोक मालवी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं में की। पद्य-बद्ध रास आदि बनाये और गद्य में बालवबोध आदि टीकाएँ

की। संस्कृत प्राकृत में भी कई ग्रन्थ व स्तोत्र बनाये। प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओं का और व्याकरण-शब्द शास्त्र व सिद्धान्त आदि अनेक विषयों का उनका ज्ञान अधिक गंभीर था। तभी वे अभिधान-राजेन्द्र जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर पाये, जो उन्हें अमर बनाने के लिये पर्याप्त है।

—अगरचन्द नाहटा

यदि कोई मुझ से पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी की असाधारण घटना कौन-सी है? तो मेरा उत्तर अभिधान-राजेन्द्र ही होगा। ऐसी महा परिश्रमसाध्य एवं महा-अर्थसाध्य यह रचना है। श्रीमद् की यह महान् कृति संप्रति आन्तर प्रान्तीय ही नही अन्तर राष्ट्रीय ग्रन्थागारों को सुशोभित किये हुए है। एक ही विषय अधिकाधिक आगमिक किंवा शास्त्रीय प्रामाणिक विवरणों को अनेक स्वरूप में सरलता एवं शीघ्रता से उपलब्ध करना चाहे तो "अभिधान-राजेन्द्र" द्वारा तत्काल प्राप्त किये जा सकते हैं।

—मुनि यशोविजय

अभिधान-राजेन्द्र कोश की रचना कर श्रीमद् ने न केवल जैन समाज का ही महान् उपकार किया बल्कि विश्वभर को उनकी यह साहित्यिक अनुपम देन है। जैन-जैनेतर सभी विद्वद्-मण्डल इस वृहद् कोश-सपुट के सातों भागों से निरन्तर उपकृत है और होता रहेगा। इस ग्रन्थ संपुट के अध्ययन से संपूर्ण जैन आगमो का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अतः प्रचलित

सभी जैन कोश-ग्रन्थों में यह अग्रस्थान का अधिकारी है।

—कवि जयन्तमुनि

यह एक सुखद संवाद है कि श्रीयुत विजयराजेन्द्रसूरिजी ने अनेक वर्षों के परिश्रम से महान् कोश अभिधान-राजेन्द्र का निर्माण किया है, जो महत्वपूर्ण है और अत्यन्त विशाल है।

—आनन्द' मासिक, १९०७ ई०

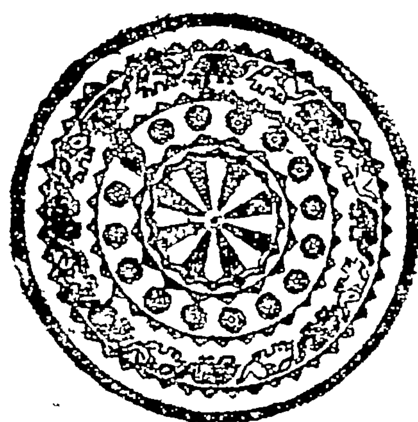
अभिधान-राजेन्द्र कोश लग-भग हजार पृष्ठ के प्रत्येक सात भागो में प्रकाशित है, जिसमें अकारादिक्रम मे प्राकृत शब्दों के संस्कृत अर्थ-व्युत्पत्ति-लिंग और अर्थ जैनागम व अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध सभी के विभिन्न मदर्भो की सामग्री से युक्त इस ग्रन्थ-राज को प्रामाणिक करने का महाभारत प्रयत्न किया गया है। जैनागमों का कोई ऐसा विषय नही है, जो इस कोश मे प्राप्त न हो।

—जैन साहित्य नो इतिहास

अभिधान—राजेन्द्र विश्वकोश में प्रत्येक प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप, सस्कृत में विवरण, मूल ग्रन्थ में प्रयुक्ति का निर्देश तथा अन्य ग्रन्थों मे विभिन्न अर्थो मे प्रयुक्त प्रत्येक के अवतरणो का विविध विश्लेषणयुक्त विवेचन किया गया है। प्रस्तावना में श्रीहेमचंद्रसूरि के प्राकृत व्याकरण पर श्रीमद्राजेन्द्रसूरि निर्मित टीका सहित प्राकृत व्याकृति रखी गई है। प्रायः सभी नामो के रूपाख्यानो का भी इसमे समावेश किया गया है। फिर भले ही साहित्य मे वे उपलब्ध भी न हो, उदाहरणार्थ पचमी एक वचन में "युष्मद्" के पचास

रूप दिये गये हैं, जबकि अर्द्धमागधी साहित्य में कदाचित् ही इन रूपों में से पाया जाता हो। इस विश्वकोश में जैन सिद्धान्त के प्रत्येक विषय के बारे में जो भी मूल ग्रन्थ या टीकाओं में उपलब्ध है वह सभी समाविष्ट है।

—अर्द्धमागधीकोश, प्र. भाग प्रस्तावना



रचित और लिखित साहित्य



किसी भी राष्ट्र,देश, धर्म और जाति के यश गौरव और शक्ति उसका साहित्य, इतिहास और संस्कृति है। यदि किसी देश राष्ट्र धर्म और जाति के पास साहित्य इतिहास और संस्कृति की थाती नही है तो उसका दीर्घ जीवन सभव नही है। साहित्य इतिहास और सस्कृति की जड़ों मे घून लगी या उन्हे नष्ट कर दिया गया तो वह देश,राष्ट्र, धर्म या जाति स्वतः ही नष्ट हो जायगी। उन्हे नष्ट करने का उपक्रम करनें की फिर आवश्यकता भी नहीं है। अन्य धर्मो के समान जैनधर्म दर्शन के पास अपनी अस्मिता और गौरव है। साहित्य, संस्कृति और इतिहास का स्वर्णिम और गौरवपूर्ण खजाना है। युगो युगो से अनेक समर्थ और विद्वान् मुनिवरों और भक्तों ने इसके साहित्य, संस्कृति और इतिहास को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित किये हैं। विद्या की समस्त शाखाओं में जैन मुनियों के रचित प्रकरण और ग्रन्थ अपना गौरव रखते है। वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास और उन्नयन में जैन

धर्म का भी गौरवपूर्ण योगदान है। विश्व संस्कृति के गगन में भी जैन संस्कृति अपनी साहित्य, सस्कृति और इतिहास की त्रिपथगा के कारण गौरवशाली पद पर है।

मध्ययुग में राजसत्ताओ और धर्म जूनून की बरबर मार के बाद भी इस धर्म का अस्तित्व रहा है। यह मुनियों और भक्तों के प्रयत्नो का सुफल है। गणधर श्रीसुधर्मास्वामी. स्थविर श्रीभद्रबाहुस्वामी, आर्यस्कन्दिल, आर्यश्रीन गार्जुन श्रीदेवर्धिगणि-क्षमाश्रमण, आर्यगोविद, आर्यवज् आर्यरक्षितसूरि. जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण, सिद्धसेनदिवाकर, जिनदासगणि. गोपालिक महत्तर, स्थविर अगस्तसिंह श्रीशीलाकाचार्य आचार्यहरिभद्रसूरि वादि-वेतालशातिसूरि, अभयदेवाचार्य द्रोणाचार्य, हेमचन्द्राचार्य, आर्यमल्लवादी, आर्यसिहवादी, श्रीचन्द्रमहत्तर, गर्गर्षि सिद्धर्षि. जिनवल्लभगणि, मुनिचन्द्रसूरि वादिदेवसूरि, यशोविजयजी आदि आदि अनेक मुनिवरों ने जैन साहित्य और संस्कृति के लिये स्मरणीय वदनीय और अभिनदनीय योगदान दिया है। वर्तमान में भी अनेक मुनिवर इस मार्ग मे चल रहे है। परम पूज्य श्रीमद्गुरुदेव ने अपने पूर्वाचार्यो की इस परंपरा को अक्षुण्ण रखा है। सस्कृति की अस्मिता की रक्षा के लिये उन श्री ने क्रियोद्धार किया। इतिहास की रक्षा के लिये त्याग के नाम पर चढ बैठे, पाखण्ड का डटकर विरोध और परिहार करके चारित्रिक पवित्रता का प्रचार किया। साहित्य के संरक्षण के लिये आहोर, बागरा, सियाणा जालोर गुडा जावरा रतलाम राजगढ़ और थराद में बडे छोटे ज्ञानागार स्थापित करवाये। जीर्ण प्रतियों

पर से पुनरालेखन स्वयं ने किये और मुनियों, साध्वियों, श्रावकों और वेतनभोगी लिपिको से सैसड़ों प्रतियाँ लिखवाई। कुछ प्रतियाँ तो सोने और चांदी की स्याही बनाकर लिखी गई है। अभिधान राजेन्द्र पाइय सद्दं बुही आदि का निर्माण करके तो आपने चमत्कार ही कर दिया। जो काम अनेक हाथों और अनेक मस्तिष्कों का है दीर्घकाल और भारी श्रमसाध्य है उन्हें स्वय ने चलते फिरते करके कमाल कर दिया। आपके बनाये कितने ग्रन्थ है यह हम आज भी साधिकार नहीं कह सकते। क्यो कि अनेक गृहस्थों के पास आपके बनाये ग्रन्थ मिलते जाते है। आज तक हमें जितने ग्रन्थ हाथ लगे है उनकी नामावली ही हम यहाँ दे रहे है और आपने अपने जीवनकाल में प्राचीन शास्त्रों और प्रकरणों ग्रन्थो आदि का भी लेखन किया उनकी सूची नम्बर दो में है।

श्रीगुरुदेव रचित ग्रन्थ सूची

-: सस्कृत—प्राकृत :-

श्रीअभिधान राजेन्द्रकोप (सात भाग १० हजार पृष्ठ)

पाइय सद्दं बुही (चार भाग अप्रकाशित)

प्राकृत व्याकृति (व्याकरण टीका)

श्रीकल्प सूत्रार्थ प्रबोधिनी (टीका)

श्रीगणधरवाद (खंड काव्य)

खरतर तस्कर प्रबंध (अप्रकाशित)

श्रीविहरमान जिन स्तोत्र:

होलिका कथा,

धातुपाठ तरंग (पद्य)

सिद्धान्त बोल सागर, (अप्रकाशित)

गाहा पयरण संगहो, (अप्रकाशित)

दीपमालिका कथा, (" ")

अक्षय तृतीया कथा, (" ")

कर्म विचार (" ")

तत्व विचार (" ")

प्राकृत शब्द रूपावली

भाषा-ग्रन्थ

श्रीकल्प सूत्र बालावबोध

श्रीगच्छाचार पयन्ना टीका भाषा

श्रीउपासक दशाग सूत्र भाषा

अष्टाह्निका व्याख्यान

श्री तत्व विवेक

श्रीजिनोपदेश मजरी,

प्रश्नोत्तर पुष्प वाटिका

धनसार अघटकुमार चौपाई,

देववन्दनमाला

श्रीप्रभुस्तवन सुधाकर

पच सप्ततिशत स्थान चतुष्पदी

श्रीसिद्धचक्र पूजा,

श्रीमहावीर पच कल्याणक पूजा,

श्रीकमल प्रभा शुद्ध रहस्य

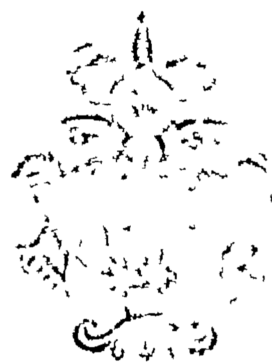
राजेन्द्र सूर्योदय:
सिद्धान्त प्रकाश (अ. प्र.)
एक सौ आठ बोल,
कल्याण मन्दिर स्तोत्र टीका
स्वरोदयज्ञान और यन्त्रावली,
ज्योतिर्कल्पलता
उपदेश रत्नसार,
उत्तमकुमार चरितम्
मुनिपति राजर्षि चौपाई
त्रैलोक्य दीपिका यंत्रावली,
चार कर्म ग्रन्थ अक्षरार्थ
पचाख्यान कथा सार.
द्वादश पर्वणिकथा सग्रह (पद्य)
षडावश्यक–अक्षरार्थ
द्वाशष्ठि मार्गणा–यन्त्रावली
शारस्वत व्याकरण भाषा टीका
कर्तुरिप्सित तम श्लोक व्याख्या
सप्तति शतस्थान यंत्रावली
श्रीकल्प सूत्र भाषा (मालवी)
स्वगच्छाचार प्रकीर्ण
जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र–बीजक,
हीर प्रश्नोत्तर–बीजक
घृष्ट्र चौपाई
षट् द्रव्य विचार,

श्रीगुरुदेव लिखित (प्राचीन) ग्रन्थ सूची २

ग्रन्थ नाम	पत्र संख्या	संवत् सं.
करण कामधेनु-सारिणी	१४	१६०४
गतिष्टका सारिणी	६	१६०५
विचार सार प्रकरणम्	२०	१६०६
श्रीभक्तामर स्तोत्र टीका पञ्चपाठ	८	१६१२
सिंदूर प्रकर-सटीक	३६	१६१३
श्रीभयहर स्तोत्र वृत्ति	६	१६१३
सारस्वत व्याकरणम् (३ वृत्ति)	३५	१६१४
प्रक्रिया कौमुदी [२-३ वृत्ति]	८७	१६१५
प्रक्रिया कौमुदी [१ वृत्ति]	६३	१६१५
ग्रहलाघवम्	६	१६१५
वाक्य प्रकाश	३	१६१६
तर्क संग्रह पत्रिका टीका	१६	१६१७
श्रीकल्याण मन्दिर स्तोत्र वृत्ति [त्रिपाठ]	११	१६१८
लघु संग्रहणी	२	१६१८
श्रीप्रज्ञापनोपाग सूत्र सटीक [त्रिपाठ]	३३५	१६१६
श्रीभगवती सूत्र सटीक [त्रिपाठ]	६६६	१६२०
रस मंजरी काव्यम्	१२	१६२३
कुवलयानन्द कारिका		१६२३
सारस्वत व्याकरण सूत्रानुक्रम	४	१६२३
अमरकोश मूल	५६	१६२६

श्रीमहानिशीथ सूत्र [पंचमाध्यायन]	१३	१६२७
ललित विस्तरा वृत्ति	२६	१६२६
अष्टाध्यायी [पाणिनि]	२८	१६२६
सारस्वत व्याकरण स्तबुकार्थ	६१	१६३२
धातु पाठ तरग	२७	१६३३
कल्याण मन्दिर स्तोत्रम्	६	१६३५
प्रमाणनय तत्वावलोक	३४	१६३५
उपदेश माला [भाषा—उपदेश]	१५	१६३६
श्रीदशा श्रुतस्कन्ध सूत्र चूर्णी	३६	१६४२
बारे व्रत टीप [सूची]	७	१६४६
चोवीस प्रकरण बोल	३०	१६४६
उपदेशसार गद्यम्	१५	१६५१
जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति बीजकं	१२	१६५१
हीर प्रश्नोत्तार सबीजकं	२४५	१६५२
श्रीभक्तामर स्तोत्र [सान्वय-टब्बार्थ]	८	
श्रीनवपद पूजा प्रश्नोत्तर	३३	
हैमलघु प्रक्रिया	५	
उपधान विधि	२	
आवश्यक सूत्रावचुरी (टब्बार्थ)	२५	
शतकत्रयम् (भर्तृहरी)	१२	

[illegible] ([illegible])	१०
[illegible]	[illegible]
[illegible]	५३
[illegible]	८
[illegible]	४
[illegible]	[illegible]
[illegible]	६



कलह शान्ति



आत्मा स्वभाव से निर्मल और स्वच्छ है। किन्तु प्रमाद, कषाय राग-द्वेष, इर्ष्या आदि की सगत से यह कर्म-लेप मय हो कर संसार मे जन्म मरणादि दुखो से परिताप भोगती रहती है। मधुर दूध छाछ के ससर्ग से दही हो जाता है। उसी प्रकार प्रमादादि की सोबत से आत्मा अपने स्वभाव को भूल कर जड़ाशक्त हो जाती है। कलह भी प्रमाद और पापस्थान है जिस जाति देश-और राष्ट्र समूह मे कलह की जड़े गहरी हुई उस देश जाति राष्ट्र और समुह का अन्तत. सर्वनाश ही होता है। बड़े-बड़े सशक्त और समर्थ सत्ताधीश, यशस्वी और ख्यातीनाम व्यक्ति भी कलह की आग में भस्म होते रहे है। कलह परस्पर के संघर्ष का निमित्त है। जो हमारा अहित करता है।

काल प्रभाव के कारण कलह इर्ष्यादि से बडे राज्य समूह और सगठन दलित पतित होते देखे जा रहे है। फिर भी लोग परस्पर के कलह से बाज नही आते। अपने अहम् के पोषण में

मशगूल वे जाति-समूह आदि का अहित करते नही हिचकते। तब हालात बड़े विचित्र हो जाते है। तब विकास के, जाति के सब काम रुक जाते है। गुटबन्दी का खेल शुरू हो जाता है। शक्ति का मात्र अपव्यय होता है। कषायो की होली दहकती रहती है। श्रीमद्गुरुदेव के जीवनकाल मे कलह के वातावरण कई बार सङ्घ में आगये, परन्तु करुणामूर्ति गुरुदेव के प्रयत्न से कलह शान्ति हुई और सङ्घ में सम्प होकर अवरुद्ध कार्य प्रारभ हुए। कलह–विवादो के समय मध्यस्थ यदि निष्पक्ष और न्याया-वलम्बी नही है तो निष्पक्ष न्याय नही हो सकता और तब कलह की शान्ति की सम्भावना क्यो होगी? श्रीमद्गुरुदेव ऐसे समय सर्वदा और सर्वथा निष्पक्ष और सत्यान्वेषी रहे। आपके जीवन में कलह शांति के लिये विवादो के निपटारे के अनेक अवसर और समय आये और आपने तब निष्पक्ष भाव से जो फैसले दिये उनका निश्चित रूप से पालन हुआ। कुछ ऐसे विवाद भी थे जिनमे आपको परिश्रम भी करना पड़ा। लेकिन आपने उन विवादों की जड को काटकर सङ्घ में सम्प करवा दियें। आहोर जालोर, चिरोला और राजगढ़ मे जो विवादो के फैसले आपने किये वे स्मरणीय व इस प्रकार है—

आहोर

वि स. १६३१ में आपका चातुर्मास आहोर में था। किसी एक परिवार मे किसी की मृत्यु हो गई थी। मारवाड़ मे मरने वालो के पीछे उसके पुत्रादि मृतकार्य करते है और जो खर्च करते है

उसे वहाँ की जन भाषा में "धोत" कहते हैं। जिसमें अपनी-अपनी जाति में रोकड़ बर्तन या भोज किया जाता है। जिसे आज की भाषा मे मृत्यु भोज कहते हैं। कलह प्रिय लोग धौत के समय समाज में कुछ विवाद खड़े कर देते है तब समाज में उन विवादों में यदि उलझ जाता है तो दलबंदी होकर मामला बडा बेढ़ब हो जाता है। कभी-कभी और कहीं-कही ये झगड़े वर्षों तक चलते रहते भी देखे गये है। तो आहोर के कोई परिवार में "धौत" की रजा लेने का मौका आया। उस परिवार नें सघ को शामिल किया। तब कुछ लोगों ने विवाद पैदा कर दिया। विवाद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया की संघ अनेक गुटों में विभक्त हो गया। श्रीगौडीजी के मन्दिर का निर्माण कार्य भी रुक गया। स्थिति बड़ी स्फोटक बन गयी। इधर चातुर्मास समाप्त होने पर श्रीमद्‌गुरुदेव ने विहार कर दिया। गरमी में विहारानुक्रम से गुरुदेव आहोर पधारे। संघ में कलह के कारण जो वातावरण बना था, उसे देखकर उन्हे बड़ा दुःख हुआ। उपदेश और समझाईश के सारे प्रयत्न निष्फल होने लगे, तब आपने आयबिल तप प्रारंभ किया। आठ दस दिनों के बाद किसी ने 'इस गरमी में आयबिल क्यो कर रहे है" ? पूछा। तब प्रमोदरुचिजी ने कहा गुरुदेव को आपके सघ मे पड़े विवाद से कष्ट पहुँचा है। अतः गुरुदेव ने ये आयंबिल शुरू कर दिये है। बात वायुवेग से नगर में फैल गई। मध्याह्न में सब धर्मशाला में आये। गुरुदेव से प्रार्थना की पारणे के लिये। गुरुदेव बोले-संघ में पड़े विवाद नही सुलझेगे तो उपवास भी करना पड़ेगे इतना

फरमा कर वे श्री लेखन में लग गए। सारा संघ बैठा था। सब बड़ी उधेड़ बून में फँस गये थे। विवाद कैसे सुलझाना ? यह प्रश्न सब को हैरान कर रहा था। संध्या होने आई पर सुलह के आसार नजर नही आये। तब सेठ टीकमजी बोले गुरु महाराज ने अपने सब के लिये तप चालु किया। मुझे यह वात अच्छी नही लगी। इस विवाद मे मैंने जो वात पकड रखी है वह मै तो छोडता हूँ। मुझे तो मेरे गुरुदेव की फिक्र है। विवाद [illegible] आलिप्त एक दल गुट ने विवाद के ताने को छोड़ दिया। शेष गुट नेता और गुट विचार मे घिर गये। बैठको पर बैठके होती रही। आखिर नतीजा आया तब तक सावन समाप्ति पर आया था। भादवा वदि पंचमी को फैसला हुआ। सब गुटो को फैसले मे अपनी अपनी विजय दीखी। रुके काम शुरू हुए। सघ संप मे निमग्न हो रहा। श्रीगौडीजी के जिनालय का काम प्रारभ हुआ। भादवा वदि ६ को गुरुदेव ने पारणा किया।

जालोर

वि. स. १६५६ का चानुर्मास जालोर था। धर्म ध्यान आर व्याख्यानादि का लाभ जनता को मिल रहा था। तब ही जालोर के प्रतिष्ठित और सम्पन्न परिवारों के मोदी परिवार में किसी घरेलु कारण से कलह हो गया था। मोदी परिवार का यह कलह इतना बढ गया कि घर का विग्रह समुदाय मे आ गया। जिसके फलस्वरुप संघ मे अस्तव्यस्तता हो गयी। तब कुछ समझदारो ने कलह मिटाने के लिये मध्यस्थता करने का प्रयत्न

किया। परिणाम यह हो गया कि कलह मिटाने की अपेक्षा और बढ गया। सब ओर से निष्फल मध्यस्थों ने सारी स्थिति गुरुदेव के सामने रखी। सारी बात सुनकर मोदी परिवार के दोनों अग्रेसरो दीपसीजी मोदी और तेजसीजी मोदी की ओर देखा। दोनों स्तब्ध हो गये थे। गुरुदेव बोले आप दोनों ने कभी सामायिक प्रतिक्रमण या जिन भगवान् की पूजा की है? उपस्थित संघ नेता और दोनों मोदी विचार मे घिर गये। सब को विचार तंद्रा से जगाते हुवे गुरुदेव बोले सामायिक प्रतिक्रमण जिन पूजादि कर्तव्यो का मतलब यदि हमारे जीवन परिवार व्यापार और व्यवहार मे नही उतरता, कथनी और करणी एक नहीं होती तो जीवन रीता और शून्य है। सामायिक प्रतिक्रमणादि का मतलब समझो! इसी बैठक मे दोनो पार्टी समाधान करो। गुरु आज्ञा और संघ का दबाव था। दोनो पार्टी को समाधान करने मे ही अपना हित नजर आया। दोनो ने मिल कर आपसी समझौता कर लिया। गुरुदेव ने मंगलिक फरमाई। सामायिकादि का मतलब उस दिन सब को जीवन मे रमता दीखा।

राजगढ़

सं. १९६१ में खजांची परिवार के बनवाये श्रीअष्टापदावतार जिनालय की प्रतिष्ठा का उत्सव प्रारंभ हुआ। किसी प्रसंग मे बाते हो रही थी। बातों-बातों में विवाद हो गया। विवाद इतना बढा कि ओसवालो पोरवाडो मे जोर की खीचातानी हो गयी। धन शक्ति और जन शक्ति का संघर्ष हो गया। तब सत्य-तथ्य

और शान्ति संघर्ष में पिस रहे थे। रंग मे भंग होने की संभावना बलवत्तर हो गयी। श्रीमोहनविजयजी म ने समाधान के बहुत प्रयत्न किये पर व्यर्थ रहे। तव प्रश्न गुरुदेव के पास आया। गुरुदेव ने सारी स्थिति का जायजा लिया। संघर्ष की जड मे धन और जन की सीरफोडी दीखी। मामला कशमकश पर था। जाजम के दाव पेच मे मामला फँस गया था। दोनो पक्ष अपने अपने पक्ष को सत्य साबित करने के लिये ताकत लगा रहे थे। दो घटो तक दोनो दलो की वाते मौन हो गुरुदेव सुनते रहे। फिर दोनो ओर के एक-एक प्रतिनिधी लेकर गुरुदेव ने आपसी निपटारे का मार्ग निकाल दिया। चार घंटो के विचार विमर्श के बाद भी यह तै रहा कि दोनो पार्टीयो के हित मे फैसला जनता से गुप्त ही रखा जाय। दोनो प्रतिनिधियो ने अपने अपने गुट को समझा दिया और सघ मे संप हो गया।

खाचरोद

वि स. १९६२ के ज्येष्ट मे गुरुदेव रतलाम विराजते थे। एक दिन व्याख्यान हो रहा था। तव चीरोलादि आठ ग्रामो के ओसवाल मिलकर आये। उन्हे किसी ने उपाश्रय मे आने से रोक दिया। तव वेदना और दु खाक्रान्त हुए वे रो पडे। चलता व्याख्यान रुक गया। कुछ लोगो ने चीरोला वालो को द्वार पर से भगाने का प्रयास किया। तव गुरुदेव ने तपस्वी रूपविजयजी की ओर देखा। वे गुरुदेव के आशय को समझ गये। उठ कर सभा के उस किनारे पहुँचे जहाँ चीरोला वाले खडे थे। उन्हे अपने

साथ लेकर रूपविजयजी गुरुदेव के समीप आये । सभा में सन्नाटा छा गया था । समाज के नेताओं के चेहरों पर झपाटे से तनाव और बदलाव दीख रहे थे । कुछ तो क्रोध भरी आँखो से चीरोला वालो को देख रहे थे । चीरोला, खरसोद, मकरावन, भेसला, उडेसिगा, सलावद, छोटा बारोदा, खेड़ावदा, से आये उन लोगो ने रोते-रोते अपनी दशा पर करूणा करने के लिये गुरुदेव से प्रार्थना की । वे बोले गुरु महाराज ? तीन सौ वर्षो से हम जाति से बहार है । जिनने अपराध किया था वे और उनके वश नामशेष हो गये है । हम तो उनके साथ रह गये थे । जातीय व्यवहारो के उच्छेद से हम विकट संकट में फॅसे है । बडी कठीनता से हमने आज तक अपने जाति और धर्म की रक्षा की है । कितनी ही बार हमने जाति को प्रार्थना की । परन्तु हमारी किसी ने नही सुनी । कई मुनिराजो और रतलाम नरेश के प्रयत्न भी निष्फल रहे । अब हम सब ओर से हार कर आपकी शरण मे आये है । आप सब जीवो के रक्षक है । हम भी जीव है दया के पात्र हैं । हमे इस दु:ख से बचाओ गुरुदेव ? यदि आपके पास हमे न्याय नही मिला तो हमारी कौन सुनेगा ? हम कहाँ जावे ? हमने तो आपकी शरण ली है । यदि आप हमे नही बचावेगे तो फिर हमारा कौन है ।

चीरोलापथियो की दर्द कहानी सुन कर गुरुदेव के हृदय मे अपार वेदना हुई । मुँह पर वेदना झलक गई । सभा मे भी स्तब्धता छा गई थी । गमगीनी से डुबी सभा की ओर देखकर गुरुदेव ने आश्वासन भरे शब्दो मे चीरोला वालो को श्रावण महिने मे

खाचरोद आने का निर्देश दिया। गुरुवाणी में सफलता की चमक देखकर चीरोलावालों की आंखों में हर्ष के आंसू आगये। सभा समाप्ति के बाद कोलाहल मच गया। दोपहर रतलाम नरेश उपाश्रय में आये। उन्होंने चीरोला पथियों को रतलाम मे ही जाति मे मिलाने की प्रार्थना की। प्रसन्नमना गुरुदेव ने फरमाया राजन्! समय और स्थान का निश्चय हो गया वह ठीक है। आप की भावना खाचरौद मे साकार होगी ऐसा वातावरण हो रहा है।

दूसरे दिन रतलाम, जावरा, खाचरोद, उज्जैन और बडनगर के अग्रसरों की बैठक हुई। स्थिति पर विचार हुआ। तीनसौ वर्षो के बाद पहली बार सङ्घ नेताओ के मन मे चिरोला पथियों के लिये हमदर्दी पैदा हुई। मालवे के समस्त चोकलो मे पत्र सदेश गये। खाचरोद वालो की तत्परता, पूर्ण लगन और महनत से श्रावण सुदि के अन्तिम दिनो मे खाचरोद मे मालवे मे बसे औसवालों के अग्रसरों की जाजम हुई। पचायती के दौर चले। चिरोला पंथियो का दल भी नगर मे आकर जम गया था। गुरुदेव की प्रेरणा भी प्रबल थी। अन्तत चिरोला वालों को जाति मे मिलाना तै हुआ और दो शर्तें रखी गई—

१ चिरोला वालों को दण्ड गुरुदेव दे।

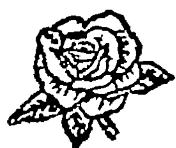
२ इन्हे पहले खाचरोद वाले जिमावे ?

नेताओ ने सोच समझ कर शर्तें रखी थी। गुरुदेव ने चिरोला पथियो को सभा मे सङ्घ की जाजम पर बैठने की आज्ञा प्रदान

की। प्रसन्नता से झूमते, नाचते और हर्ष के आँसुओ में तर चीरोला वाले तीन सौ वर्षो में जाजम पर आये। वे बोले सघ और गुरुदेव हमें जो दड देगे हमें मन्जूर है। हम जात गंगा में मिल गये, अब हमारे सताप गये।

गुरुदेव ने उसी सभा में मौखिक फैसला दिया कि 'चीरोला आदि ग्रामो के ओसवालो का इतने वर्षो तक जो बहिष्कार रहा यह दड कम नही है। अतः इन्हे आम माफी दी जाती है। आज से इनके साथ सब व्यवहार शुरू है"। फैसला सुनते ही उपस्थित जनता हर्ष विभोर हो गई। जय जयकार के नारे गुंजित हो गये। ३०० वर्षो का विवाद हल हो गया। उस दिन खाचरोद में लग-भग पाँच हजार जनता और रतलाम दरबार स्वयं उप-स्थित थे। दूसरी शर्त का पालन एक समस्या थी। पर गुरुदेव ने सभा मे देखा कि कावडिया नन्दरामजी और मुहणोत ऊँकारजी चुन्निलाल खडे हुए स्वामिवात्सल्य की आज्ञा मांगी। संघ खाचरौद ने आज्ञा दी। इस प्रकार दोनों शर्तो का समाधान हो गया। गुरुदेव ने मङ्गल वचन फरमाये। सभा विसर्जित हुई। तब चीरोला वालों के हाथो से खाचरौद आदि संघों के उपस्थित लोगों को प्रभावना दी गई।

वर्षो के विवाद का सुखद अन्त होने से गुरुदेव का मन खुश था। तब चीरोलादि ग्रामो के लोग तो धन्य-धन्य हो गये थे।



झलकियां



श्रीमद् गुरुदेव का जीवन घटना समर और साधना से दीप्त एवं ज्ञान की आभा तथा तेज से भास्वर था। पचाचारादि के पालन में अप्रमत्त और सावधान रहे। क्रियोद्धार के क्षण से जीवन के अन्तिम क्षण तक भी अतिचार दोष की संभावना आपके जीवन में खोजना व्यर्थ प्रयास और मूर्खता है। चारित्रिक सावधानी में आपके जीवनकाल में अन्य कोई बराबरी का नही था। अन्तेवासियो की थोड़ी भी अनवधानता आपको सहन नही थी। तब आप हद से ज्यादा कठोर हो जाते। गौचरी की जरासी भूल पर आपने एक शिष्य को रवाना ही कर दिया। विचार, व्यवहार और अन्य किसी प्रकार की भी कमजोरी आपको सर्वथा नापसद थी। तब दूसरी ओर ग्लान और रुग्ण तथा अन्य किसी प्रकार से क्लान्त को देखकर आपका अन्तर फूल के समान कोमल हो जाता। बीमार शिष्यो की देखभाल मे भी जब आप लग जाते

तब देखने वालों का कहना है कि माता सा प्यार और दुलार लिये आप निरंतर उनका ध्यान रखते। अधिकतर अवसरों पर सामान्य दवाओं के उपचार से शिष्यों की बिमारियाँ भगाने में आपके निदान एवं नुस्के अचूक होते। ऐसे समय शिष्यों को गुरु माता ही नजर आते।

वास्तव में आपका जीवन वज्र सा तेजस्वी और फूलों सा कोमल था। आपके जीवन में विरोधी भावों का मिश्रण था। आपके जीवन की कुछ ऐसी घटनाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं कि जो वर्षों के बाद भी आज तक ताजा और शिक्षाप्रद है। तो लीजिये गुरु जीवन-फूल की घटना सौरभ का आस्वाद—

१

वि. सं. १९३४ की चातुर्मास स्थिरता मालवे के नगर राजगढ़ (धार) में थी। राजगढ में उस जमाने में अनेक परिवार सम्पन्न और धर्मध्यान प्रवृत्ति वाले थे। गुरुदेव के साथ अन्य मुनियों के साथ सीधे सरल और गुरुभक्त मुनि श्रीमोहनविजयजी भी थे। गोचरी के लिये ये ही मुनि पधारते। गोचरी में दोष-गवेषणा की सावधानी के लिये आप बड़े सख्त थे। भादवा वदि के एक दिन गोचरी लाये। मंडली में गोचरी प्रारंभ हुई कि शाक के पहले कवल ही ने मुनिजी के इंगित को फेर दिया। कड़ुवा शाक कैसे खाना यह समस्या थी। गुरुदेव की आंखों से मुनि का बिगड़ा चहरा नहीं छिपा। गुरुदेव बोले मोहन! अपन मुनि है। गवेषणा के बाद जो आहार मिला, उसे उदरस्थ करने में स्वाद

को प्रधानता देना अपने को शोभा नही देता। गुरु वाणी सुनते ही मुनि ने गोचरी प्रारंभ की। गोचरी के वाद चैत्यवंदन क्रिया हो रही थी कि कडुवा शाग जिसके घर का था वह गृहस्थ अपने पास पड़ौस के ५-१० लोगों को लेकर आया। सब घबराये हुए थे। उन्हे जब यह मालुम हुआ कि गोचरी हो गयी है। तब तो उनका जी उचट गया। वे सब रोने लगे। उपाश्रय का शान्त वातावरण एकदम हताशा मे बदल गया। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा आप सब इतनी चिन्ता क्यो करते है? हम अपने आचार पालन मे थोड़ी भी ढील देने को तैयार नही।

इधर बात नगर मे फैल गयी। सब भागे उपाश्रय की ओर। नगर जनता किसी अज्ञात भय से भयभीत थी। संघ मे शान्ति के लिये गुरुदेव ने मोहनविजयजी को कुछ सकेत किया। वे किसी घर मे गये। घर के मालिक की आज्ञा लेकर नीम के सूखे पत्ते १५-२० ले आये। गुरुशिष्य दोनों ने उन सूखे पत्तो को चवा लिया। यह था कडुवे शाक का अषोध। दो दिनों तक संघ मे गहरी निराशा और हताशा रही। पर इधर आप अपने दैनिक कर्तव्यो मे लिन थे। दो दिनो के बाद सघ मे सतोप आया। यह है जीवन मरण मे समवृति का जीता जागता नमूना।

२

वह जमाना राजा शाही शासन का था। अग्रेजों ने भारत को परतत्रता की बेड़ियों मे जकड लिया था। विज्ञान की उपावेला हो रही थी। जनता मे शिक्षा का प्रचार नही वत् था। सामान्य

चमत्कारों और जादू टोनों से जनता आसानी से धोके में आ जाती थी। वि सं. १६३६ मे गुरुदेव जालोरी के प्राचीन नगर भीनमाल पधार रहे थे। मालवा और मारवाड़ से तिरस्कृत मायावी यतियो ने भीनमाल को रक्षित समझ कर मुकाम लगाया था। किन्तु भीनमाल के गाधी मुता, बाफना सेठ और वाणीगोता आदि परिवारों के मुखियों ने जालोर जाकर गुरुदेव को भीनमाल पधारने की अर्ज की थी। क्षेत्र स्पर्शना योग से गुरुदेव भीनमाल की ओर पधारे। यतियो के अड्डो मे भूचाल आ गया। अड्डों की रक्षा के लिये कवच बनाने की धमाल मे पड़े यतियों मे से किसी यति ने गुरुदेव जिस स्थान मे रहे थे। उस स्थान पर दूसरे दिन कि रात में कुछ उच्चाटन प्रयोग किया। उपाश्रय के आगन मे उस वस्तु को डालने के लिये एक यति वेश पलट कर आया। पर कुत्तों ने उसे धर दवोचा। गली के लोग जाग गये। चोर समझ कर उसे पकड़ लिया। मारपीट भी की। दीयों और मशालो के प्रकाश मे जब किसी ने उस माने हुए चोर का मुख देखा तो यतिजी महाराज निकले। सख्त पूछ परछ से सब को जब सारी बात का पता चला तो रोषारुण हो गये। सारा हजूम उपाश्रय मे पहुँचा। उपाश्रय के आगन मे वह प्रयोग पडा था। वातावरण वड़ा उग्र हो गया। जाजम शामिल हो गयी। दोनो गच्छ शामिल हो गये। उस यति से सारी हकीकत सघ को मालूम पडी तो सब चिन्तित हो गये। अग्रेसरो को अनहोनी की आशका हो गई वे तत्काल उपाश्रय मे गये। गुरुदेव जाग रहे थे। सघ नेताओ को असमय आने का कारण पूछा। संक्षेप मे

सारी घटना निवेदन की। तब गुरुदेव ने मोहनविजयजी म. को बुलाया। वे भर नींद में थे। एक आवाज में ही जाग कर वे आगये। गुरुदेव बोले मोहन! आगन मे किसी मनचले यति ने कुछ प्रयोग किया है। जाओ उसे खोल दो। पंद्रह वर्षों की आयु के मुनि आंगन में आये। न कोई भय और न कोई चिन्ता। परन्तु भयभीत थे अग्रेसर। मुनिजी ने कहा "नमो अरिहताण" और हाथ डाल दिया उस गुच्छक में। मौम के पुतले मे सुइयों का गुच्छक था। मुनिजी तो "नमो अरिहंताण" की ध्वनि करते-करते सब बिखेरा करके चल दिये। गुरुदेव के पास गये। गुरुदेव ने मुनिजी के माथे पर हाथ फेर कर कहा जाओ सो जाओ। मुनि अपने संस्तारक पर कुछ मिनिट बैठे और फिर सो गये। गुरुदेव ने शान्त स्वर मे आये हुए लोगो को धीरज देते हुए कहा कि आप सब शान्त और निर्भय रहे। हमारे लिये किसी तरह की चिन्ता न करे। इन क्षुद्र कामो से अपना क्या बिगड़ता है? जो हम चिन्ता करे। लोग आश्चर्य मे डूबे थे। धीरे-धीरे सब बिखरने लगे। वह यति भी मार खाकर अपने अड्डे मे पहुँचा। सब यतियो ने रात मे ही भागने मे अपना हित देखा। क्या मालूम सुवह क्या होगा? इस भय से डरे वे रात के अंधेरे में ही भीनमाल को सलाम कर रवाना हो गये। सुबह हुआ, आम जनता मे रात की घटना के समाचार फैल गये, सत्य-सत्य रहा। वि. स. १९३६ का चौमासा भी भीनमाल मे हुआ। भीनमाल की भक्ति के लिये तब ही जालौर के तेजराज ने गाया है–

"आपरे परताप गुरुजी भीनमाल भीनी हो" ।

३

घटना वि. सं. १६४० के आसपास की। किसी समय श्रीमद्-गुरुदेव राजगढ़ में थे। चुन्नीलाल नामक पोरवाड़ एक अत्यन्त सामान्य स्थिति का व्यक्ति था। तेल तमाखु बेच कर किसी तरह परिवार का भरण पोषण करता था। कभी–कभी परिस्थिति भूखे सो जाने की भी हो जाती थी एक दिन व्यापार नही हुआ। रात मे चिन्ता के कारण नीद नही आई। सुबह ही गांवो में जाने की नियत से घर से निकला। विचार आया उपाश्रय में गुरुदेव के दर्शन कर के आगे जावे अभी सूर्योदय को बहुत देर थी। पास का सामान एक कौने में रख कर गया। वदना करके गुरुदेव के चरण छूए। तब ही गुरुदेव का ध्यान पूरा हुआ। विचारों के वमल मे फँसा चुन्नीलाल पैर पकड़ कर बोला गुरु-देव ! मगलिक, तब ही आखो से दो आंसू गुरु चरणों पर गिर गये। आंसुओ ने सारी कहानी कह दी। गुरुदेव ने फरमाया चुन्नीलाल ! हिम्मत से काम लो। तप तो धूप छांव का नाटक है। अधकार के बाद सूर्य उदय होता है। वीतराग के स्मरण से खुशियों का उपहार आता है। मगलिक सुन कर जाते हुए चुन्नी-लाल ने कहा गुरुदेव ! मैं सरदारपुर जा रहा हूँ। गुरुदेव बोले उधर तो सूरज ऊगता है। चुन्नीलाल सरदारपुर जा रहा था। बीच में सघवी लूणाजी मिले, चुन्नीलाल ने उपाश्रय मे हुई बाते कही। संघवीजी बोले अच्छा हुआ सरदारपुर मे भाग्य का उदय

है। पहुँचो ! चुन्नीलाल सरदारपुर गया। उस जमाने मे सरदारपुर में छावणी थी। अंग्रेज सैनिक भी रहते थे। ट्रेजरी भी थी। ट्रेजरी के हिसाब का आँकडा नही मिल रहा था। दो अंग्रेज नीम के नीचे वैठे गणित कर रहे थे कि पास से चुन्नीलाल निकला। हिसाव करने वालो ने इसे बुलाया। हिसाव करने को कहा। चुन्नीलाल को अंग्रेजी का सामान्य बोध था। हिसाब के पन्ने लेकर वैठ गया। दो घटो मे हिसाब सुलझा कर दे दिया। ट्रेजरी का ऊपरी खुश हो गया। चुन्नीलाल को दोसौ के वेतन से खजाने पर मुकरर्र कर दिया। भाग्य के आगे का रोध हट गया। तेल तमाखु का गोरख धधा गया। सरदारपुर से एक महिने का अग्रिम वेतन लेकर चुन्नीलाल सीधा उपाश्रय आया। गुरुदेव को वदना करके सारा हाल निवेदन किया। मौन और मध्यस्थ भाव से गुरुदेव ने धर्मलाभ दिया। छ महिनो मे ही तरक्की हो कर चुन्नीलाल खजाची हो गया। २-३ वर्षों के बाद आस पास के देशी राज्यो में भी इनकी साख जम गयी। अग्रेज शासन ने चुन्नीलालजी के पुत्र पन्नालालजी को 'रायबहादुर' का खिताब दिया था।

गुरुभक्त चुन्नीलालजी का परिवार राजगढ शिष्ट और शालीन परिवारों मे एक परिवार है। चुन्नीलालजी के बड़े भाई हीराजी भी श्रद्धालु व्रतधारी और अच्छे विद्वान् श्रावक थे। जब साधु साध्वि का योग नही होता तब हीरजी श्रावक श्राविकाओ को व्याख्यान सुनाते और धर्मध्यान करवाते। चुन्नीलालजी खजाची का परिवार आज भी राजगढ मे "खजांची" के नाम से

मशहूर है। इस परिवार ने नगर में अष्टापदावतार नामक चौमुख जिनालय भी बनवाया है। जिसकी प्रतिष्ठा गुरुदेव ने की है।

इस घटना का सूत्र अहमदाबाद में है। श्रीमोहनखेडातीर्थ की स्थापना–प्रतिष्ठा के बाद गरमी में गुरुदेव अहमदाबाद में हठीभाई की वाड़ी में बिराजमान थे। प्रचंड गरमी के कारण सारा वातावरण गर्म था। किसी दिन मध्याह्न में गुरुदेव कुछ लेखन में लीन थे। लक्ष्मीचन्द नामक कोई गृहस्थ मलमल का एक वस्त्र लेकर आया। वंदना के बाद उसने वस्त्र लेने की प्रार्थना की। तब गुरुदेव ने कहा यह वस्त्र तुम हमे देने के उद्देश्य से बाजार से खरीद लाये हो न? उसने स्वीकृति में मस्तक हिलाया। मुस्काराते गुरुदेव बोले महानुभाव! साधू है। हमारे आचार-व्यवहार की मर्यादा से बाहर की किसी व्यवस्था को हम स्वीकार नही कर सकते। यह वस्त्र सदोष है। अतः हम नही लेगे। लक्ष्मीचन्द विचार में पड गया। दूसरे उपाश्रयों में वह गया, मुनियों को वस्त्र ग्रहण के लिये कहा तो उनने ले लिये। फिर किसी विद्वान और वृद्ध मुनि को लक्ष्मीचन्द ने दोनों उपाश्रयों की घटना निवेदन की। मुनि ने जो बात गुरुदेव ने कही थी उसे ही प्रमाण बतलाया।

५

श्रीमद्‌गुरुदेव नित्य मध्य रात्री में ध्यान-अनुप्रेक्षा और चिन्तन किया करते थे। ध्यान के लिये दो तीन नई प्रणालिकाओं का

आपने विकास किया था। जिन में स्वरोदय का पुट भी होने से कभी-कभी भवितव्यताओं की झांकी भी हो जाती थी अहमदाबाद में ही आपने एक रात्री ध्यान में नगर-साहूकार के घर से उठती आग की लपटे देखी। श्रीमोहनविजयजी के पूछने पर आपने सुबह यह बात उन्हे कह दी। गुरु शिष्य की बात सामायिक करने के लिये आये मयाचन्द नाम के किसी व्यक्ति ने सुनली! उसने यह बात अन्य लोगों को कही। ठीक निश्चित समय पर आग लगी। रतनपोल, नगरसेठ मार्किट, वागणपोल में काफी नुकसान हुआ।

आग की लपटें श्रीमहावीर जिनालय तक आ लगी। कुछ उतावले श्रावकों ने जिनालय के मूलनायक प्रतिमाजी को उठा कर अन्यत्र रखदी। आग की शान्ति के बाद जिनबिंब को यथास्थान प्रतिष्ठित करने के लिये मुहूर्त निकलवाया। क़िसी ने यह मुहूर्त पत्र श्रीमद्गुरुदेव को दिखलाया। मुहूर्त-पत्र देख कर गुरुदेव ने कुछ पलों का फेर कर दिया जावे तो अच्छा है। यदि इसी समय प्रतिष्ठा होती है तो आकाश धुएँ से भरा है। हठाग्रह में मत्त लोगो ने बात नहीं मानी और उसी मुहूर्व में प्रतिष्ठा कर दी फल में अग्नि का उत्पात फिर हो गया।

६

घटना सूत्र प्राय: शाश्वततीर्थ श्रीशत्रुंजय की तलेटी पर है। उत्तर गुजरात के नगर थराद के पारिख अंबावीदास मोतीचन्द ने श्रीसिद्धाचल गिरनार शंखेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा के लिये

पैदल संघ निकाला। पूज्यपाद गुरुदेव और अन्य मुनिगण भी साथ में थे। बीच के ग्राम नगरों और तीर्थों की यात्रा करते हुए संघ सिद्धाचलजी पहुँचा। दूसरे दिन प्रातः संघ का प्रत्येक व्यक्ति खुश था। जो तमन्ना लिये थराद से चले थे। वह तमन्ना आज पूरी हो रही थी। प्रतीक्षा की पूर्णता का क्षण आज है। यह विचार प्रत्येक यात्री के दिल और दिमाग में आनन्द की लहरे ला रहा था। चतुर्विध संघ चला गिरिराज की ओर तलेटी चैत्यवन्दना के बाद भगवान् श्रीऋषभदेवजी के जयकारों से आकाश गूंजित हो रहा! भक्ति भावना की भागीरथी में तैरते यात्री गिरिराज पर चढ़ने को बढ़े कि पंड़ों पुजारियों के विशाल दल ने मार्ग रोक दिया। इस अचानक घटना से सब स्तब्ध हो गये। वातावरण हताशा के साथ निरव हो गया। जब सारी बात का पता लगा तब रोष और क्रोध से यात्रीगण उबल ही पडते कि गुरुदेव वहाँ पधार गये। शान्ति से जब सारी बात का पता चला तो गुरुदेव ने हाथ के सकेत से यात्रियों को बैठने को कहा। सब बैठे। पडों की बात स्वयं गुरुदेव ने यात्रियों को सुनाई। पडों का कहना था यदि ये साधु सघ सहित ऊपर चले गये तो आज कुछ अनहोनी हो जावेगी। इसलिये हमने रोका है। हमको यह बात कल साधु मुनिराजों ने कही है। पंडों की बात सुनकर सब आश्चर्य मे थे। भ्रम और ममता से डूबे जीव कर्म बन्धन की जाल में स्वतः बनते है। श्रीगुरुदेव ने कुछ क्षण विचार किया, इतने में कुछ जोशीले तरुणों ने पंडों से दो-दो हाथ करके मामला साफ करने का निश्चय करके अपना

काम शुरू करने तजवीज की। वीर क्षेत्र थराद का पानी समय और अवसर पर अपनी शक्ति बताने को उतावला था कि गुरुदेव का ध्यान उधर चला गया। हाथ के संकेत ने सब को समझा दिया। श्रीगुरुदेव ने पंडों की ओर देखकर कहा हम यात्री है यात्रा हमारा उद्देश्य है। जिन भविष्य वक्ताओं ने आपके सामने अपनी ममता और कषाय वृत्ति का जाल बिछाया है। उन्हे कल यहां आप अपने साथ ले आवे। यदि वे अपनी भविष्य वाणी सत्य सावित नही कर सके तो हम यात्रा करेगे। इतने में थराद का एक जोशीला युवक खड़ा हुआ। सब का ध्यान उधर गया। वह वोला उन भविष्य वक्ताओं को अभी ही क्यों न बुलाया जावे। वात सब को ठीक लगी। गुरुदेव ने भी हाँ भरी। ५-७ पडे गये। दो घन्टों के बाद वे पडे वापस आये। साथ में आनदजी कल्याणजी की पेढी के वडे मुनीम थे। उनने आकर गुरुदेव को वन्दना करके कहा साहेब ! यात्रा करो, पधारो। मुनिमजी की वात सुनते ही सघ मे जय जयकारों के नाद हो गये भक्तों की टोलियां नाचने लग गयी। गिरीराज पर संघ चढने लगा। थराद के कुछ भाविक गये और गुरुदेव को उठा लिया और वढ़ चले गिरीराज पर चालीस पच्चास कदम तक यही नजारा रहा वड़ी मुश्किल से गुरुदेव उन नवयुवकों के कंधों से जमीन पर आये। श्रीऋषभदेव भगवान् के नाम का जयनाद करते यात्री-वढे चले। चलते वढ़ते यात्रियो ने उस दिन सुबह ही तलेटी पर गुरुदेव का वनाया स्तवन वोलना शुरू किया—

आजनो दाडो रे सजनी, भले ऊग्यो गई दुरमती रजनी।

आदि जिनंद नुं रे मुखडुं, जोवा हरख्युं छे मुझ मनडुं ॥

प्रभुस्तवन सुधाकर पृ० ८४

७

मन जले और मन चले लोग किसी को सुखी नहीं देख सकते। वे दुसरों को परेशानी में डालकर खुश होते हैं, किन्तु कभी-कभी उनके किये उनके ही माथे पड़ते हैं तो फिर उनका मुख और स्थिति देखने जैसे हो जाते है। शीवगंज (राजस्थान) में मेघाजी मोतीजी और वन्नाजी मोतीजी के बनवाये श्रीऋषभदेव जिनालय (चौमुखजी) और श्रीअजितनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा का मुहूर्त वि. स. १९४५ के माघ में था। उत्सव के लिये विशाल मंडप बना था। वेदिका पर २५१ जिन प्रतिमाजी अजनशलाका के लिये विराजमान थी। एक दिन दोपहर को श्रीमद्गुरुदेव कुछ क्रिया विधि करवा रहे थे। जनता देख रही कि मंडप के एक कोने पर आग का धूँआ दिखा कुछ लोगों ने आग-आग की आवाजें लगाई, जनता में भगदोड़ मच गई। मुनि मोहनविजयजी ने सारा हाल गुरुदेव को निवेदन किया। प्रतिष्ठा उत्सव के आयोजक दोनों भ्राताओं को चिन्ता होगयी। बात यह थी कि जब से गुरुदेव ने क्रियोद्धार करके साध्वाचार का पालन और प्रचार प्रारंभ किया था, तब से ही यतियों का वर्चस्व हट गया था। उनकी मानता पूजना में कमी आगई थी। समाज पर अब उनकी धमकियों और धोंस का असर ही नहीं था। जिससे वे यति गुरुदेव और समाज को परेशान करने की यदा-कदा कोशीश कर लेते थे। शीवगंज में भी किसी यति ने

आग का पलीता प्रयोग मंडप में किया था। समय पर गुरुदेव को खबर हो गयी। मुस्कान भरे चेहरे वाले गुरुदेव ने एक मुट्ठी वास.क्षेप उधर उड़ा दिया। और खड़े-खड़े नवकार मंत्र बोल रहे थे। तब हाथों को मसल रहे थे। कुछ क्षणों के बाद नजारा बदल गया। जिस यति ने यह नाटक किया था, वह भागता आया। गुरुदेव के पैरों पड़ा। क्षमावान् गुरुदेव ने उसे क्षमा कर दिया। जनता उस यति पर इतनी बिगड़ गयी थी कि यदि मामला गुरुदेव ने नही सँभाला होता तो यति बुरी मार खाता। गुरुदेव ने उसे अपने पास बिठा लिया। बात आई गई हो गयी। सध्या को उस यति को बिदा किया।

दुश्मन भाव से आया यति आपके व्यवहार से बदल गया। माफी माँगता और गुण गाता गया।

८

जल अग्नि और हवाएँ हमारे जीवन-पोषण के अनिवार्य और आवश्यक तत्व हैं। इन तीनो के अभाव में हमारे जीवन को खतरा हो जाता है। इनका कम ज्यादा हो जाना भी हमारे लिये खतरे का निशान है। इन तीनो का प्रकोप जहां भी और जब भी हुआ हैं वहा सर्वनाश के नजारे हो जाते है। आर्ष महर्षियों का अनुभव है कि योग के मार्ग में गतिशील योगियो को मानसिक निश्चलता हो जाने के कारण ध्यान में लीन होने पर कभी-कभी निकट में होने वाले दृश्यों का भास स्पष्ट हो भी जाता है। सामान्य जनता में इन बातों के लिये बड़ा कुतूहल

होता है। मालवा के नगर कुक्षी (धार) में श्रीमद् गुरुदेव बिराजमान थे। एक रात्रि में आप नित्य क्रम के अनुसार ध्यान में बिराजे थे कि उपाश्रय के पास की गली के अंबाराम ब्राह्मण के घर से आग का प्रकोप उठता देखा। धूल भरे कृष्णबदन लड़के ने सात बार दरवाजे पर मुक्के मारे और भागा नगर की गली-गली में। गुरुदेव का ध्यान भंग हुआ। उपाश्रय में हमेशा सोने वाले श्रावक उस समय जाग गये थे। गुरुदेव को आँगन में आकाश देखते देखकर कारण पूछा तब गुरुदेव ने कहा-वैशाख वदि ७ को कुक्षी में आग का भयकर प्रकोप होगा। माणकच-न्दजी खूंट वाले, चोधरी ओपाजी, हीराचन्दजी, जारोली राय-चन्दजी आदि ने यह बात सुनी तो उन्होंने बचाव के प्रयत्न किये। जिस जिसने अपना माल असबाब अन्यत्र भेज दिया वे बच गये। गुरुदेव विहार करके राजगढ़ आ गये। अग्नि प्रकोप की बात कुछ लोग नही माने। वैशाख वदि ७ को ही आग लगी। १५०० मकान खाक हो गये। इस अग्निकांड में सबसे अधिक नुकसान जैन संघ को हुआ। कुक्षी के शान्तिनाथ जिना-लय के पास विशाल ज्ञान भडार था। जिसमें तीस हजार से अधिक हस्त-प्रतियाँ तथा १२३५ ताडपत्र प्रतियाँ थी। गुरुदेव ने बहुत समझाया पर हठी लोग नही माने और आग ने अपार क्षति कर दी।

यह घटना वि. सं. १९५१ के वैशाख की है। इस अग्निकाड के प्रत्यक्षदर्शियों में के एक सौभाग्यचन्दजी पोरवाड़ से यह बात हमने सुनी थी। जनता में भी प्रसिद्ध बात है।

६

जावरा (म.प्र.) में वि. सं. १९५३ का चातुर्मास था । आनंद उमग और उत्साह से चातुर्मास के दिन बीत रहे थे । सावन भादों मे तपस्या भी बहुत हुई । कार्तिक शुक्लामें श्रीसघ जावरा ने शानदार अट्ठाई महोत्सव किया । मालवे के ग्राम नगरों से जनता भी खूब आई थी । महोत्सव के अन्तिम दिन उपाश्रय के बाहर बने विशाल सभा स्थान मे व्याख्यान हो रहा था । सभा के एक कोने पर सहसा आग की लपटे उठी । जनता में भगदड़ हो गयी व्याख्यान में बैठे जावरा नबाब की आँखे गुस्से से लाल हो गयी, वे उठे कि गुरुदेव ने हाथ का इशारा करके सब को बिठा दिया । तब उस दिन गुरुदेव की आँखों में बडा विचित्र जोश देखा गया । दोनों हाथों को परस्पर मसलते गुरुदेव ने किसी मुनि को पात्र में जल लाने का सकेत किया । जल से हाथ धोए गुरुदेव ने तब राजा प्रजा सब को आश्चर्य हुआ हाथों में से काला-काला पदार्थ पानी के साथ था । हाथ शुद्ध हुए कि आग खत्म । सभा का एक भाग जला था । व्याख्यान पुनः प्रारभ हुआ । आधे व्याख्यानमें गुरुदेवने तेले का प्रत्याख्यान लिया । तब तो सब स्तब्ध हो गये । नबाब साहब ने पूछ ही लिया । गुरुदेव बोले साधु जीवनमें शक्ति का प्रयोग और प्रदर्शन सर्वथा हेय है । परन्तु आज की परिस्थिति अजब थी, यदि समय पर उपाय नही होता तो कई जाने जा सकती थी । शक्ति प्रयोग का प्रायश्चित यह तेले का तप है । अग्नि प्रयोग किसने किया ? पता लगाया तो कोई यति भक्त था । गुरुदेव के सामने लाया उसे । तब

गुरुदेव ने उसे कहा भाई सब जीव अपने–अपने कर्मों के मुताबिक सुख दु:ख भोगते है यदि हम किसी को सुख नहीं दे सकते तो दु:ख के निमित्त हो कर कर्म भागी नहीं होना चाहिये ।

१०

घटनाएँ घटित हो जाती हैं । समय चले जाने के बाद उनका महत्व पीछे वालों के जीवन में हो जाता है । कभी–कभी बीते संस्मरण किसी के जीवन का रास्ता ही मोड़ देते हैं । घटना बनी थी रतलाम में । यह बात है वि. सं १९५४ के सावन की । काली कजरारी घटाएँ उमड घुमड़ कर मालवे की शस्य शामला की प्यास बुझा रही थी । फसलें बढ रही थी । तो धर्म स्थलों में भी आराधना का अमृत बरस रहा था । गुरुदेव श्री अपने शिष्यों सहित रतलाम में चातुर्मास व्यतीत कर रहे थे । सावन की घटाएँ धरती पर आनद बरसा रही थी तब रखबाजी भडारी जी का एक पुत्र उगती तरुणाई में मृत्यु के मुख में सरक रहा था । दिल और दिमाग को मजबूत करके रखबाजी ने जाते पुत्र को नवकार सुनाया और पुत्र के प्राण उड़ गये । अन्त्य संस्कार के बाद कुछ लोग रखबाजी भंडारी को सांत्वना देने के लिये उनके पास बैठे । रखबाजी बोले महमान था आया और गया इसमें विषाद करने से फायदा क्या ? कल का गुरुदेव का व्याख्यान सुना है । आज भी मैं अभी व्याख्यान में जा रहा हूँ । सांत्वना देने के लिये आये लोग विचार मे पड़ गये । वे देखते है कि सचमुच भंडारीजी चल दिये, उपाश्रय मे जा कर वे

व्याख्यान मे बैठे रहे थे कि गुरुदेव की नजर पड़ी गुरुदेव बोले रख-वाजी ! आज तो देर से ! भंडारी बोले प्रभो ! महमान को पहुँचाने गया था, देर हो गई । पास मे बैठे मथुरालालजी नें कहा गुरुदेव ! भडारी के पुत्र का अवसान हो गया है । गुरुदेव बोले रखबाजी ! प्रभु की वाणी को जीवन में साकार किया तुमने ! रखबाजी ने हाथ जोड़ कर कहा आपका पसाय है !

मरने वाले के पीछे कई दिनों तक रोने और शोक का आटोप रखने वालों के लिये यह घटना विचार सूत्र दे रही है । शोक और रोने से फायदा कुछ नही होता अपितु आर्त्त और रौद्रध्यान से कर्मबंध होता है। घटना के एक दिन पहले ही सभव है गुरुदेव ने इस कुरीति की व्यर्थता के लिये उपदेश दिया था । दूसरे ही दिन गुरु भक्त रखबाजी भडारी ने उस उपदेश को जीवन मे साकार कर दिया ।

गुरु और भक्त का ऐसा ऐक्य विचार ही कुछ रग लाता है ।

११

श्रीमद् गुरुदेव ने क्रियोद्धार के बाद मालवा मारवाड़ गुजरातादि में विहार और चातुर्मास किये । एक क्रम से विहार होते। प्रत्येक क्षेत्रों को लाभ मिलता और साधुसघ की समाचारी का यथावत् पालन भी होता । उस जमाने में मालवा मारवाड़ आने जाने के मार्ग विकट और भयानक भी थे । पहाडो से होकर गुजरते पथिकों के प्राणो पर सकट रहता था । उन मार्गो से श्रीमद्गुरुदेव को अनेक वार गुजरना पडा । वि सं. १९५९ के अंत में शिष्यों को साथ लेकर आप मारवाड़ से मेवाड़ पधार रहे थे । राणकपुर की नाल

से २९६ चढ रहे थे। चलते-चलते दिन पूरा होने आया। मार्ग दो ढाई मील शेष रह गया। गुरुदेव ने एक विशाल वट-वृक्ष तले मुकाम की बात तै करदी। पास खड़े आदिवासी की आज्ञा लेकर मुकाम जमा दिया। सब शिष्य विकट मार्गश्रम से थक गये थे। मुकाम देख विश्राम अनुभव किया। किन्तु थोड़ी देर के बाद पता चला कि यह स्थान खतरे वाला है। रात में जगल के स्वापद पास में बहते सोते में पानी पीने आते है। भय का वातावरण हो गया। इतने में सूर्य अस्त हो गया। साथ के लोगो ने आधा माईल आगे की पल्ली में जाने का विचार पक्का किया। गुरुदेव ने रात्रि हो जाने से आगे बढने से साफ इन्कार कर दिया। प्रतिक्रमण के बाद आकाश में चन्दा राजा का राज हो गया था। दुग्ध धवल चाँदनी में वातावरण सुन्दर और मनोरम दिख रहा था।

गुरुदेव ने सब को वट की छाया-सीमा से बहार निकलने से इन्कार कर दिया था। सोने का समय होते ही सथारा पोरसी विधि करके सबने सोने का विचार किया कि श्रीयतीन्द्रविजयजी ने श्रीगुरुदेव को निवेदन किया। आपकी आज्ञा हो तो हम आज रात्रि-जागकर सज्झाय विचार में व्यतीत करे? गुरुदेव ने फरमाया, हाँ निरव और निरापद स्थान है। करो, पर ध्यान रखना स्थान मर्यादा से बाहर कोई मत जाना, रात्रि का समय है, यदि भय लगे तो भी हल्ला मत करना।

श्रीदीपविजयजी, यतीन्द्रविजयजी, लक्ष्मीविजयजी गुलाबविजयजी और हंसविजयजी आदि पाँच सात मुनि स्वाध्याय-संगति में

लगे। दो-तीन घड़ियों के बाद डकारता, उछलता और गरजता वनराज सिंह आया। पानी पीते सिह को सबसे पहले श्रीयतीन्द्रविजयजी ने देखा। उनने सबको हाथ के इशारे से दिखाया। जिन्दगी मे पहली वार सिह देखा था, सबने देखा। लक्ष्मीविजयजी ने तब ही विचित्र कुर्राटी भरदी। फिर तो सिह उछला। वह आये-आये इतने मे तो गुरुदेव ने उसे देखा कि वह सिह जहाँ था वही रुक गया, सब जाग गये थे। श्रावक तो शेर को पास मे देखा तो पसीना-पसीना हो गये। तपस्वी रूपविजयजी बोले मत घबराओ, यह तो अभी चला जायगा।

कुछ क्षणों के बाद वह शेर तो वहाँ एक पत्थर पर बैठ गया। सब घबरा गये। थोड़ी देर के बाद वह सिह उठा। गरजा कि पर्वत में प्रतिध्वनि हो गई। पूँछ पछाट कर धीरे-धीरे जल के सोते में गया, पानी पिया और लगाई छलांग सोते के उस किनारे। इधर सब उठे कि गुरुदेव ने मना किया। उधर शेर टेकरो की ओट में चला गया। बस जिन्हे सोना था सोये और शेष धर्म जागरण अनुप्रेक्षादि में लगे। उस रात्रि के अन्त मे गुरुदेव ने एक बडा अनमोल पद्य बनाया था।

अवधू आतम ज्ञान मे रहना किसी कु कुछ नही कहना।
आतम ज्ञान रमणता संगी, जाने सब मत जंगी ॥
परव भाव लहे न घट अंतर देखे पक्ष दुरंगी ॥ अव. ॥

प्रभुस्तवन सुधाकर पृ २१४ ॥

सुवह होने पर सायरा की ओर विहार किया।

१२

इस घटना का सूत्र मारवाड़ के कस्बा नगर आहोर में है। सन् संवत् ठीक से नहीं है, परन्तु सं. १६५५ से १६५६ के बीच की बात है। गुरुदेव आहोर में विराजमान थे। प्रातःकाल क्रिया विधि से निवृत्त होकर सज्झाय ध्यान कर रहे थे कि डूँगाजी आये उदास मुँह और आँसु भरी आँखें। गुरुमहाराज ! चमना अन्त पर आगया है। आपके नाम की रटन कर रहा है पधारो मंगलिक सुना दिरावें, श्रीमद् पधारे, तब चमना का श्वास फूल रहा था, आंखे फिर गयी थी, परन्तु वाचा साफ थी। घर के आँगन मे पच्चीस-तीस रिश्तेदार बैठे थे। सबको लड़के के बचने की आशा कतई नही थी। हाँफते और काँपते रोगी को श्रीगुरुदेव ने मंगलिक सुनाया। रोगी बोला वा खे प, श्रीमद् ने वासःक्षेप किया। अपनी सारी शक्ति लगाकर रोगी ने गुरु का हाथ पकड़ लिया। गुरुदेव ने नवकार सुनाया। बालक रोगी भी नवकार बोलने लगा। हाँ ! अब नवकार गिनता रहा। गुरुदेव उपाश्रय में पधारे। समय जाता गया। रोगी का रोग कम होता गया। तीसरे दिन तो बालक चमना अपने पिता डूँगाजी का हाथ पकड़ उपाश्रय में आगया। गुरुदेव को वन्दना करके बैठ गया। मंगलिक सुनकर घर गया। थोड़े दिनों के बाद वह भला चंगा हो गया।

यह घटना परम गुरु भक्त चमनाजी डूँगाजी के जीवन की है।

१३

वि. सं १६५५ के आसोज में एक दोपहर को आहोर के सेठ

वागमलजी, फूआजी, कुंदनमलजी जसरूपजी, जीताजी, सेसमलजी आदि गुरुदेव के पास वैठे थे। वाते चलते-चलते गोडजी के मन्दिर के बावन जिनालय की प्रतिष्ठा के लिये वात निकल गयी। तब ही टीकमजी सेठ आये। बोले क्या वात है? जीताजी बोले टीकमजी! यदि शुभ समय होवे तो अब के ही प्रतिष्ठा करा लेवे तो अच्छा। तभी फूआजी ने कहा यदि आते साल करावे तो अच्छा होगा। परन्तु आम राय यह रही कि 'शुभस्यशीघ्र' गुरुदेव के समीप मुहूर्त के लिये निवेदन किया। तव ही रूपविजयजी बोले आता साल, तो लिखने में मग्न गुरुदेव ने रूप विजयजी की ओर देखा। सेठ टीकमजी और बाफना जसरुपजी मुता ने अनुनय पूर्वक पूछा तब गुरुदेव ने फरमाया आते वर्ष तो आकाश साफ है। कुन्दनमलजी बोले तो करो संघ शामिल। किया सो काम। दो घन्टों के विचार विमर्श के बाद फाल्गुण कृष्णा पंचमी का मुहूर्त तै कर के तैयारी शुरू की।

निश्चित समय पर नौ सौ एकावन जिन बिम्बो की अजनशलाका हो गयी। प्रतिष्ठा के आयोजक और उपदेशक दोनों को प्रचूर यश मिला। परन्तु छप्पन का वर्प भयकर काल हुआ। धन और जन का क्षय हो गया। त्रासदी से राजा और प्रजा सब ही दुःखी हो गये। गुरु वचन सत्य हो रहे है।

१४

विघ्न संतोषियों की आदत है कि वे किसी को भी कभी भी और कही भी परेशां करके मौज मनाते हैं। कुछ ऐसे ही विघ्न संतोषियो ने सियाणा मे वि. सं. १९५८ के प्रतिष्ठा उत्सव में

बने अस्सी फुट ऊँचे विशाल सुमेरु पर्वत पर जन्म कल्याणक विधि के दूसरे दिन प्रातः किसी ने कुछ गड़-बड़ी करदी, सुमेरु धँस गया। पाँच आदमी उस मलवे के नीचे दब गये चारों ओर हाहाकार मच गया। कुछ लोग उपाश्रय में पहुँचे। मोहनविजयजी तो पहले ही तैयार थे। इसलिये कि प्रतिक्रमण के बाद गुरुदेव ने उन्हे अनहोनी का संकेत कर दिया था। आगन्तुकों ने सुमेरु धँसने का समाचार दिया। श्रीगुरुदेव स्वयं पधारे तब मडप मे कोलाहल मच गया था।

श्रीगुरुदेव ने मलवे पर एक स्थान पर निशान किया। जवानों ने मलवा हटाया। अन्दर दवे पाँचों मनुष्य जीवित निकले। मामूली खरोंचें हाथ पैरो पर लगी थी। सैकड़ों लोगो ने उन्हे भला चगा और जीवित देखा। निराशा पलायन हो गयी। अशान्त वातावरण पुनः खुशी में पलट गया। चारो ओर जय-जयकार होने लगे। मौन शान्त एवं समचेता गुरुदेव उपाश्रय में पधारे।

तप त्याग के बल पर साधक कर्मो के संघात का ध्वस भी कर सकता है। तब सामान्य दुनियावी चमत्कार उसके लिये महत्व नही रखते। भारतीय इतिहास के प्राचीनतम और प्राचीन प्रलेखों से ज्ञात होता है कि तप त्याग की श्रेणी पर चढे साधक गुणस्थानों की उत्तरोत्तर उज्ज्वलता और प्रोज्ज्वलता प्राप्त करते है। जैन भाषा में इसे लब्धि और ऋद्धि कहते है। अन्यत्र शक्ति विभूति और योग वैभव आदि नाम से जाना गया है। अग्नि जल वायु और दुष्कालादि के समय परिस्थितियों से मजबूर और सघ रक्षा के लिये क्वचित्त ऐसे रक्षक उपाय किये गये जिन्हे आपद्-धर्म या अपवाद व्यवहार में शुमार किया गया है।

प्रश्नोत्तर और चर्चाएँ



श्रीमद् गुरुदेव ने क्रियोद्धार किया कि उनका मार्ग नानाविध उत्पातों और विघ्नों-बाधाओं से पटा था। पहले भी अनेक क्रियोद्धार हुए है, परन्तु उत्पातों की झंझाओं के चक्र अल्प-जीवी ही रहे होगे। किन्तु गुरुदेव का समस्त जीवन सैनिक सा-ही बीता है, अन्यों के आक्रमण से अपना और अपनों का संरक्षण करने में जो सहजता है वह सहजता अपनों के साथ घर्षण में नही होती। अपनों के साथ संघर्ष और फिर उन पर सद्-भाव रखना यह असिधारा नर्तन के समान दुःशक्य है जिसे शक्य करना पडा गुरुदेव को। अपने ही लोगों के साथ तत्व और सिद्धान्त के लिये विचार सघर्ष करना और समाज में गहरे तक जमी अंधश्रद्धा के सामने लालबत्ती धरना, यह बड़े संकल्प और बल का काम है। औदासिन्य और पूज्यो के मनस्वी निरुपण के सामने श्रीमद् की घोपणाओ प्रचारों और प्ररुपणाओं के ऐसे

चक्रवात जमे कि वे स्तब्ध हो रहे । तब अनेक अवसरों पर चर्चाओं में आना पड़ा । व्यख्यानों आदि में अनेक प्रश्नों के समाधाना भी करना पड़े । वास्तव में श्रीमद्गुरुदेव के जीवन को हम त्रिविध दृष्टिकोणों से देखते है तब कभी वे संकुचित और शिथिलता के रोग की चिकत्सा, मातासी ममता और कठोरता से करते नजर आते है। कभी मदिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा करते दिखते हैं, तो कभी वन पर्वतों और विजन में कायोत्सर्गस्थ हो कर्मो का ध्वस करते खड़े हैं। तब कही नगरों की सभाओं में स्नेह और सौहार्द भरे अंतस् से आचार, विचार, सिद्धान्त और सामयिक प्रश्नों को अनेकान्त के गरने में छानते है। कभी काया की माया को भूल कर तपस्या के अग्नि पुंज में कर्म निमित्तों को जलाने के प्रयत्न में लीन दिखते हैं। कभी शास्त्रो के अम्बार में बैठे स्वाध्याय में रत तो कभी शिष्यो को ज्ञानामृत पिलाते चलते है और कभी नारियल की टोपारी में स्याही घोल कर बरु की कलम से स्वच्छ सुन्दर मोती दानों से मनोहर अक्षर विन्यास मे अभिधान राजेन्द्र से विशाल ग्रन्थों का आलेखन हो रहा था।

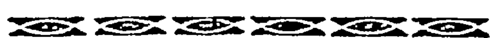
यह नजारा है युग प्रभावक, पुनरुद्धारक और शासन स्तम्भ श्रीमद्गुरुदेव के जीवन की। स्वच्छन्द यतियों और उनके भक्तो ने अनेक बार अनेक तरह के प्रश्नोसे उन्हे परेशान करने का प्रयास किया है। " प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका" ग्रन्थ में ऐसे कितने ही प्रश्नों के मय शास्त्र प्रमाणों के तर्क पूर्ण उत्तर दिये है। प्रश्नों में अनेक तरह के प्रश्न है। कुछेक प्रश्नों का और उनके उत्तरों का सदा महत्व रहा है। उन प्रश्नों, समाधानों मे से कुछ प्रश्नोत्तरो का आस्वाद यह है –

१ प्रश्न— बहुत से मुनि और यति कहते है कि तीन थुई का सिद्धान्त आपने नया बनाया है। यह काम आपनें क्यों किया ?

उत्तर–जो मुनि है वे असत्य नहीं बोलते। मेरे क्रियोद्धार के पहले तीन थुई का अस्तित्व ही नहीं था तो फिर यह कहाँ से आया ? कुँए और जलस्थान में जल नही होगा तो बालटी में जल कहां से आयगा ? तीन थुई का सिद्धान्त मैंने नया नहीं बनाया। मेरे जीवन से पहले तीन थुई नहीं थी यह बात जो कहते है, उनके दूसरे महाव्रत मे विधि निषेध क्या है यह ज्ञानी जाने। नवांगवृत्तिकार श्री अभयदेवसूरिजी आदि अनेक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में तीसरी स्तुति का विवरण होते हुए और उसे जानते हुए भी इन्कार करना, यह मायावाद करने वालों को क्या फायदा है ?

प्रश्न— तीन थुई करने के पीछे कौनसा रहस्य और तर्क सार्थक है ?

उत्तर—जैन धर्म का सिद्धान्त अनेकान्त हैं। किसी भी क्रिया में यदि सिद्धान्त सार्थक नही होता तो वह क्रिया उचित कैसे होगी ? तीन थुई के प्रश्न पर किसी तरह का हठ करना ठीक नही है। स्तुति के हार्द और मतलब को समझ लिया जावे तो सारे विवाद हल हो जाते है। स्तुति करने के दो स्थान है- जिनालय मे



१—इस परिच्छेद में प्रस्तुत प्रश्न और उत्तर हमारे पास रक्षित हस्तप्रतियों में अशो पर से तथा "श्री यतीन्द्रसूरि साहित्य मदिर" गुड़ा स्थित गुरूदेव के हाथों की लिखी कापियो (डायरियो) में से लिये हैं। हमने भाषा को अभी की बोली का जामा ही पहनाया है।

देववंदन या चैत्यवंदन के अवसर पर। प्रतिक्रमण के पहले होने वाले देववंदन (चैत्यवंदन) के अवसरों पर स्तुतियां की जाती हैं। जिनालय मे प्रवेश करने के पहले सब व्यापारों का त्याग किया जाता है। तब किसी भी प्रकार की आशा और मांग होना या मांग करना किस प्रकार उचित है? प्रतिक्रमण करने वाला पहले सामायिक ग्रहण करता है। सामायिक का प्रतिज्ञा तत्व। "सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" है। सामायिक काल में जब समस्त सावद्यों का त्याग हो जाता है तब किसी भी प्रकार की आशा तृष्णा या कषायादि की पोषक मांग विचारधारा या याचना कैसे उचित होगे? यदि जिनालय में या देववंदन चैत्यवंदनादि में चौथी स्तुति करते है तो–

१– चैत्यवंदन को भावना का ध्वंस होता है।

२– जिनालय की मर्यादा का लोप होता है।

३– श्रीवीतराग भगवान् की आशातना हो सकती है।

४– भावना योग में आशा मिलने से आत्मा को स्व की दृष्टि से अलाभ होता है।

५– राग द्वेष की झलक होती है।

प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रिया के अवसर पर गुण पोषण और दोष निकंदन ही लक्ष्य है, विरताविरत साधक का। यहा पर यदि चौथी स्तुति करते है तो—

१– सामायिकादि के प्रतिज्ञा तत्व का नाश होता है।

२– वीतराग पर स्थापित और स्थापित श्रद्धा कमजोर होती है।

३– धर्मध्यान की मर्यादा से नीचे की मलिन भावना आती हैं।

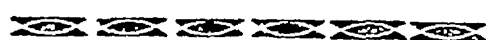
अतएव तीन स्तुति करना उपयुक्त है। चौथी स्तुति करने का विचार किसी कारण और आपद् निवारण के लिये किया गया होगा। बीमारी के समय औषध लेना और परहेज रखना योग्य है। परन्तु तन्दुरुस्त आदमी दवा और परहेज रखता है यह समझदारी कही जायगी क्या ?

चौथी स्तुति के समर्थन में कहा गया है कि "चौथी स्तुति पहले भी कारण से की और संप्रति काल में भी आचार्य परम्परा से करते है"१।

चौथी थुई के समर्थन के लिये प्रयत्न करते-करते आखिर उक्त तर्क दिया है। जो लचर और सामान्य लोगों को भ्रम मे डालने का ही तो यत्न है।

जिन्हे एक मात्र भावभरा नमस्कार करने से ही नर-नारी कर्म-मुक्त हो सकते है। जिनके नामस्मरण मात्र से आरोग्य, बोधि-लाभ दुखक्षय कर्मक्षय, समाधिमरण और इष्टफल लाभादि फल मिल सकते है, उन वीतराग की सशक्त और समर्थ आराधना मे सराग की उपासना की यह धाँधली उचित नही है।

प्रश्न—चरितानुयोगादि ग्रन्थों में कहा है कि श्रीकान्ता, मनोरमा,



१—चतुर्थः स्तुति. पुरापि कारणे कृता सम्प्रत्यपि कारणे क्रियमाणत्वादाचार्यपरम्पराऽऽयाता च ॥

सुभद्रा और अभयादि का सानिध्य देवताओं ने किया था। अतः पूर्व पुरुष प्रमाण से देवताओं का स्मरण उचित है। अतः करना उचित नहीं है !

उत्तर—कही की बात को कहीं जोड़ देना और उसके द्वारा अपने अभिमत की पुष्टि करके संतोष मानना आत्मवंचना है। पूर्व पुरुषों के नाम से श्रीकान्ता और मनोरमादि के उदाहरणों से चौथी स्तुति का समर्थन नही होता। श्रीकान्ता मनोरमादि को देवगण की सहायता क्या देववंदन और प्रतिक्रमण में मिली ? नहीं ! तब इनके नामों को आगे करके देवस्तुति का समर्थन करना योग्य नहीं है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् श्रीऋषभदेव प्रभु को एक वर्ष तक निराहार रहना पडा, तब देवगण किधर मौज मना रहा था ? श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी को तपःकाल में मरणान्त कष्ट तक आये तब देवगण किधर था ? बचाव में तर्क नही है। अपवाद को उत्सर्ग कर दिया फिर भी उपद्रवों का तांतां नये नये उत्पात खड़े करता जाता है। अतः चौथी स्तुति करने का उद्देश्य 'उपयोग के लिये चौथी स्तुति" यह सफल नही होता।

प्रश्न—स्वामिवात्सल्य करना उचित है ?

उत्तर—हाँ उचित है। श्री भगवती सूत्र के १२ शतक के पहले उद्देशे में शंख श्रमणोपासक के अधिकार में स्वामिवात्सल्य का अधिकार है। श्रमणोपासक के जीवन कार्य और वार्षिक कार्यों में स्वामिवात्सल्य भी एक है। सम्पन्न और शक्तिशाली उपासक यदि अपनी सम्पदा का उपयोग स्वधर्मियों के लिये नही करता

है और करने में आलस्य करता है तो उसे शक्तिगोपन दोष लगता है। कहा है-

न कयं दीणुद्धरणं, न कयं साहम्मिआण वच्छल्लं।

हियम्मि वीयराओ, न धारियो हारिओ जम्मो ॥

दीन दुःखी जीवों की रक्षा नहीं की, न स्वधर्मियों को वात्सल्य सहित सहकारादि दिया, न वीतराग को हृदय में धारण किया उसका जन्म ही अफल गया। स्वधर्मिवात्सल्य से अनेक कमजोर और ढुलमुल जीवों की श्रद्धा बद्धमूल होती है। धर्म और धर्माचार्य की यशःकीर्ति बढ़ती है। वास्तव में यह अवसर पर करने से शासन प्रभावना होती है।

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं चौथी स्तुति कम करके आपने क्रिया में कमी करदी, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—जहाँ गांव होगा वहाँ उसकी सीमा भी होगी और गांव ही नहीं होगा। वहाँ उसकी सीमा कहाँ से आवेगी ? चौथी स्तुति नही थी। तब उसे उड़ाने का किसी पर आरोप लगाना बालक के समान प्रलाप है। कई शताब्दियो पूर्व जैन संघ में तीन स्तुति करने वालो का अस्तित्व था ही तब क्रिया में कमो-वेश करने का मौका कहाँ से आया ? मात्र जनता को धोखे में डालने को यह तर्क-प्रपंच किया जाता है।

प्रश्न—कुछ लोगों का विचार है कि साधु सुपात्र हैं। गृहस्थ के जीवन में पुत्र पत्नि परिवार आदि के झमेले होने से वह जीवन उपादेय नही है। क्या यह विचार ठीक है ?

उत्तर–गृहस्थ जीवन विरताविरत अवस्था है। इसमें आया उपासक पूर्ण मनोयोग से हिंसादि क्रियाओं से विरत होने का प्रयत्न करता है। किन्तु गृहस्थ जीवन की परिस्थतियाँ उसे विरत नहीं होने देती। मन से विरत और शरीर तथा कार्य से अविरत गृहस्थ मिश्र अवस्था में झूलता है। धर्म व्यवहार में क्रिया की अपेक्षा भावना अधिक सबल है। मिश्र अवस्था में चलता गृही उपासक भी आत्म विकास की ओर गतिशील है। जीवन को हेय भाव ही से देखना, उचित नही लगता। यदि गृही-जीवन हेय ही होता तो तीर्थंकर आगर धर्म और अनगार धर्म की प्ररूपणा क्यों करते ? व्रती गृहस्थ को "समणभूए" (श्रमणभूत) जैसे गौरव पूर्ण शब्द से क्यों सबोधित किया जाता ? श्रीउत्तराध्यायन सूत्र में —

"सति एगेहि भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तए" ५–२०

यह उद्बोधन क्यों आता ? श्रीउपासकदशा सूत्र में देव से अपराजित श्रावक की प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् उन श्रावकों के कार्य से बोध लेने का साधू - साध्वी को क्यों फरमाते ?

साधू धर्म की अपेक्षा गृही का धर्म क्षुद्र होगा, किन्तु अन्य काम कषायों के दलदल में फँसे संसारी जीवों की अपेक्षा एक धर्माचारी गृहस्थ का जीवन क्षुद्र नहीं महान् है। अपने गृहस्थ धर्म में पूर्णतः सावधान उपासक का साधू से किसी तरह अविनय हो जाता है तो उसे प्रायश्चित्त आ अकता है। तब गृहस्थ के जीवन को हेय कहना किस प्रकार युक्ति-युक्त होगा ?

प्रश्न—विचार और आचार तथा वर्तन में सजीव जैन धर्म सिद्धान्त जड़ और जड़ संगति को उचित नही मानता तब मूर्ति जैसा जड़ आलम्बन कैसे ठीक है ?

उत्तर—जैन धर्म सिद्धान्त ने कर्मक्षय के लिये जो मार्ग व्यवहार और विधियाँ प्रवर्तित की हैं, उनमें सार्थकता देखकर हो उन्हे स्वीकार किया है। मूर्ति यद्यपि पुस्तक नक्शों और धर्मोपकरणों के समान जड़ है, तथापि मन को एकाग्र और निष्प्रकंप करने के लिये पुष्टालंबन है। जब तक आत्मा अप्रमत्त स्थिति में नही जाती तब तक उसे उस स्थिति की प्राप्ति के लिये तद्योग्य आलंबन का सहारा लेना पड़ेगा। बालक को चलने में मातादि का सहारा आवश्यक है, उसी तरह साधना में सबल नहीं बने और अप्रमत्त नही बने, साधक को सहकार की आवश्यकता है। श्रीआचारांग सूत्र में कहा है– 'प्रमादी पुन:-पुन: गर्भ मे आता है। प्रमादी पुरुष को चारों ओर से भय रहता है और अप्रमादी पुरुष चारों ओर से निर्भय हो जाता है"।

तो मूर्ति अप्रमाद स्थिति के सहकारी साधनों में से एक साधन है। अत. जान कर और समझ कर मूर्ति को स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—जैन धर्म में सर्वविरत और देशविरत उपासक के जीवन में सलेखना का बड़ा महत्व बतलाया है, किन्तु संलेखना तो जानकर और समझकर जीवन समाप्त करने का तरीका दीखता है जो घातक नही हो सकता !

उत्तर— जो जैन धर्म शासन सूक्ष्म सूक्ष्म जीव के जीवन तक की रक्षा के लिये उपासक को जागृत रखता है वह उपासक को जीवन घात के लिये प्रेरणा कैसे देगा ? जीवन में सदा और निरंतर तप और संयम अहिंसादि का आचरण करते करते जब शरीर शुष्क, निर्बल और निर्मांस हो जावे अस्थि मात्र शेष रह जाने से अथवा अपना आयुष्य निकट जान कर अपने बल, वीर्य, पौरुष श्रद्धा और पराक्रम का समवेत उपयोग करने के लिये तथा जीवनान्त के समय निरंतर आत्म-साधना में लीन रह कर विषयो और कषायों को कृश करने के लिये और अन्त में शान्ति से मृत्यु होने के लिये जो साधना की जाती है उसे जैन भाषा मे "सलेखना" कहते है ।

इहलोक-आशसा परलोक-आशसा जीवन वांछा, मरण वांछा, और कामादि दिव्य भोगो की वाछा ये पांच दोष है, इनसे बच कर, साधक संलेखना धारण करता है। सलेखना करके भी यदि उक्त पांचो या एकादि अतिचारों का सेवन हो जाता है तो वह मरण, पडित मरण नही होता ।

समस्त प्रकार से सावधान और अप्रमत्त भाव से संलेखना करने वाला व्यक्ति आतमघाती नहीं होता और न यह क्रिया आतम-घाती है ।

श्रीमद् गुरुदेव श्री ने अनेक अवसरों पर अनेक प्रश्नों के अनुभव शास्त्र-प्रमाण और तर्कसभर उत्तर दिये है । जिनमे से कुछ प्रश्नोत्तर "प्रश्नोत्तर पुष्प वाटिका" में प्रकाशित हुए है और कुछ उन श्री की हाथ-पोथियो में संग्रहित हैं। क्रियोद्धार के बाद

अनेक अवसरों पर आपको चर्चाएँ भी करना पड़ी हैं। चर्चाओं के समय शालीनता शास्त्रीयता और शिष्टता को आपने कभी नहीं छोड़ा। हाँ सामने आये व्यक्तियों ने चर्चाओं में अपनी कमज़ोरी ढंकने के लिये शालीनता और शिष्टता को ताक में भी रख दिया। ऐसी हलकी और अशिष्ट भाषा और वाणी का प्रयोग वे करते है कि उनका नमूना भी हमें यहाँ पेश करने में अपनी लेखनी का गौरवहतीन होता दीखता है। हां तो श्रीमद् गुरुदेव को क्रियोद्धार के बाद जो चर्चा वार्ता करना पड़ी वे है।

१–वि. सं. १९२९ का चातुर्मास रतलाम में था। तब श्रीझवेर-सागरजी और यति बालचंद्र ने मिल कर चर्चा के लिये हुल्लड़ मचाया, तब आपने प्रश्नों के उत्तर देने का विचार किया। इस चर्चा में मुख्य प्रश्न थे।

तीन थुई करना शास्त्र प्रमाण है,

मूर्ति पूजा शास्त्रोक्त है,

श्वेताम्बर मुनि को श्वेत वस्त्र ही पहनना चाहिये,

पांच व्यवहारों में से कौनसा व्यवहार आज के युग में प्रवर्तित है?

इन प्रश्नो पर विशद् और शास्त्र प्रमाण चर्चा-समाधान के लिए आपने 'सिद्धान्त प्रकाश" ग्रंथ बनाया। तर्क प्रमाण और युक्ति सभर विचारणा इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। आपके समाधान का उत्तर देने में प्रतिपक्ष कमजोर ही रहा।

२–वि. स. १९३३ मे जालोर में अमूर्तिपूजक संघ के दो मुनिवरों से मूर्ति और उसकी पूजन के प्रश्नो पर चर्चा हुई। मुनि जिज्ञासु वृत्ति के होने से वाद मे विवाद नही हुआ। तत्व और तात्पर्य

की खोज इस चर्चा का विषय था। अतः शालीनत्व वातावरण में चर्चा समापन हुई।

३–वि. सं. १९४१ में अहमदाबाद में तपागच्छाचार्य श्रीआत्मारामजी (विजयानन्द सूरिजी) म. से पत्रों द्वारा "स्तुति" पर चर्चा हुई। उस समय के "प्रजाबन्धु" अखबार मे प्रश्नोत्तर प्रकाशित हुए थे।

४–वि. सं १९५९ के अन्त में बाली (राज०) मे पन्यास हितविजयजी "स्तुति" सिद्धान्त पर चर्चा करने के लिये आये तब श्री दीपविजयजी और श्री यतीन्द्रविजयजी ने स्तुति शब्द की व्याकरण सिद्धि पर प्रश्न पूछे तब मौन हो गये। कुछ देर वे ही घीसे-पीटे तर्क किये और स्थान पर जाने में ही भला देखा। क्योंकि तरुण मुनि दीपविजयजी और श्री यतीन्द्रविजयजी के तर्क पूर्ण प्रश्नो की बौछार से पन्यासजी घबरा गये थे। अपने स्थान पर भक्तो की टोली मे फिर कुछ हा-हू की तब श्रीयतीन्द्रविजयजी ने उनके पास जाकर विचारणा का आमन्त्रण दिया। पन्यास, तरुण और प्रतिभा के धनी मुनिजी के आमन्त्रण से ऐसे क्षुब्ध हो गये कि विहार ही कर दिया।

५–वि स. १९६० मे आप आठ महिनो तक सूरत मे विराजे। सूरत में कितने ही श्रावक नवतत्व षट्द्रव्य और कर्मग्रन्थादि के ज्ञाता थे। श्रीगुरुदेव की विचारणा इस सम्बन्ध में गहन और शीघ्रगति थी। श्री दीपविजयजी और श्रीयतीन्द्रविजयजी की प्रवणता भी गहरी थी। विद्वानों का तांता लगा रहता। शास्त्र

विचारणा की शुद्धता और समझाने की सरलता और सुबोधता से अनेक तत्व तथा द्रव्य रसिकों के मन संतुष्ट हुए। श्रीमद् की इस प्रख्याति से जले पन्यास श्री चतुर विजयजी ने स्तुति और समाचारी पर चर्चा का बवंडर खड़ा किया। कुछ कदाग्रही लोगो ने वातावरण की शान्ति भंग करने की कोशीशे की परन्तु कषाय और कषाय प्रवृत्तियो से अलग रहने से साधु का आचार पवित्र रहता है, यह विचार और उपदेश गुरुदेव का रहना था अतः वे श्री दूर ही रहे। प्रश्नो के उत्तर दिये। सत्य बहार आया ही। बवंडर करने वालो ने मौन होने मे ही अपना भला देखा।

६–वि. सं. १९४९ मे निम्बाहेडा में अमूर्तिपूजक मुनि श्री नन्द रामजी ने "मूर्ति और उसकी पूजन जैन सूभोक्त नही है" यह प्रतिपादन अनेक प्रयुक्तियां लगा कर करना शुरू किया। नगर का वातावरण क्षुब्ध हो गया। तब राज अधिकारी ने श्रीमद् गुरुदेव को मूर्तिपूजा के समर्थन मे अपने तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने के लिये निवेदन किया। मुस्कान बिखेरते गुरदेव ने उसी समय जैन शास्त्रो के पाठ और तर्क तथा युक्तियो सहित मूर्ति और उसकी पूजन का पक्ष प्रस्तुत किया। आया हुवा अधिकारी आपकी प्रमाणबद्ध विचारधारा से खुश हुवा। श्रीनन्दरामजी से उसने अपने पक्ष की प्रस्तुति के लिये कहा। तो उधर से उत्तर जो आया सो तथ्यपूर्ण नही था। वे तो सामान्य जनता मे अपनी वाक् पटुता से धाक जमाए हुवे थे। निम्बाहेड़ा से चल कर इन मुनिजी ने नीमच, मन्दसौर, जावरा, रतलाम मे भी हाहू की पर

पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इनका यत्न व्यर्थ रहा। "श्रीप्रश्नोत्तर पुष्प वाटिका" एवं "सत्य बोध भास्कर" आदि मे मूर्ति और उसकी पूजन प्रश्नों पर प्रमाण पुरस्सर विशद् विवेचन किया गया है।

उक्त स्थानो के अलावा अन्य अनेक स्थानो पर आपको कई मुनियों और विद्वानो के साथ चर्चा विचारणा करना पड़ी है। सर्वत्र आपका सिद्धान्त था "वादे वादे जायते तत्व बोधः" अतः आपने अपनी शालीनता नही छोडी। लेखन एव बोलने मे आपने हमेशा भाषा समिति का ध्यान रखा है, किन्तु प्रतिपक्ष ने हल्की भाषा और यद्वा तद्वा लिखने-बोलने मे अपनी बहादुरी देखी और आप तव मध्यस्वभाव मे विचरते रहे।



शिष्य और शिष्याएँ



तपोभूमि की श्रमण और वैदिक दोनो परम्पराओं में ज्ञान विज्ञान साधना के क्षेत्र में गुरु शिष्य की परम्परा का अपना स्थान है। गुरु के समीप रह कर शिष्य अपने जीवन-पुष्प को सुरभित और विकसित करता है। गुरु का कृपा-प्रसाद शिष्य के जीवन का संवल होता है, गुरुनिर्दिष्ट पथ मे चला शिष्य ज्ञान की उस परम ज्योति के दर्शन करने मे सफल हो जाता है कि जिसके साक्षात्कार के लिये शिष्य ने न जाने कब से अपने अन्तस् मे स्वप्नो का पहाड रचा होता है। जन शासन मे सदा सर्वदा गुरु का स्थान निराला और महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रत्येक उस शिष्य को कि जो आत्मसुख कामी है को सदा कहा गया है "गुरु कुलवास न मुचई" शिष्य को सदा गुरु के समीप ही वसना चाहिये। स्वच्छंदता और स्वतंत्रता शिष्य के जीवन विकास के अवरोध है। गीतार्थ गुरु की नेश्राय मे रहते शिष्य सुरक्षित और निर्भय होते हैं। संयम-साधना के पलिमथुओ से शिष्य का रक्षण और बचाव गुरु-सामिप्य का फल है। कुचेष्टा, मुखरता, चक्षु

चांचल्य, तिन्तिनिकता, अतिलोभ और भिद्या ये साधु जीवन के पलिमंथु (विरोधी) तत्व हैं। यदि शिष्य पर गुरु का नियंत्रण नहीं होता तो संभव है उसके जीवन में कोई भी पलिमंथु किसी भी रूप में प्रविष्ट होकर उसके जीवन-उद्यान को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं कि जिस प्रकार समुद्र के किनारों पर बसी बस्तियों को चक्रवात अस्त्-व्यस्त कर देते हैं।

वज्रादपि कठोराणि
मृदूनि कुसुमादपि,

प्रमादादि से ग्रस्त शिष्य पर अनुशासन करते हुए गुरु वज्र के समान कठोर होते हैं, तब रूग्ण और ग्लान शिष्य के लिये गुरु फूल के समान कोमल सयमी के जीवन की संमार्जना और रक्षक के लिये गुरु सहारा है। श्री जिन शासन में इसीलिये गुरु-पद परम गौरवशाली और सम्मान्य रहा है।

परमाराध्यपाद गुरुदेव श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. भी इसी परम्परा की माला के मोती है। आपने जावरा मे क्रियोद्धार किया उसके बाद मालवा मारवाड गुजरात मेवाड़ादि प्रदेशों में सतत् विहार किया। ग्राम ग्राम नगर नगर वीरवाणी का प्रचार आपका कार्य था। सो उसे किया ही। अनेक शिष्यो ने आपके समीप संयम यात्रा का मार्ग लिया था। उनके ज्ञान ध्यान अध्ययन अध्यापन मे आप जागृत थे। क्रियोद्धार के पहले भी एकावन यतियों ने आपके पास ज्ञानार्जन किया था। शिष्य की सामान्य स्खलना भी आपको सह्य नहीं थी। तब आप वज्र के समान कठोर थे। स्खलना संमार्जन में शिष्य मोह आपके पास कभी

न फटक सका। बागरा में आप विराजमान थे, दो शिष्यों का चक्षु पलिमंथु और कुचेष्टा देख आपने उनको भाँति-भाँति से समझाया, परन्तु प्रयत्न निष्फल देख आपने उनको निष्कासित कर दिया।

सं० १९६१ का वर्षावास कुक्षी था। तब श्रीयतीन्द्रविजयजी को निमोनिया हो गया था। मुनिश्री की स्थिति विकट थी। आपने रुग्ण मुनि की परिचर्या स्वयं प्रारंभ की। यद्यपि अनेक छोटे-बड़े मुनि साथ थे, परन्तु आपने स्वयं ने दिनरात परिचर्या की। श्रावक संघ देख रहा था अनुशासन मे वज्र से कठोर गुरु फूलों से कोमल बनकर रुग्ण मुनि की परिचर्या मे लीन है। तीन रातो तक आपने स्वल्प निद्रा भी नही ली। बीमार मुनि की बीमारी से मुक्ति के बाद ही आपने अपने अन्य कार्य प्रारम्भ किये।

ऐसे थे गुरुदेव !

क्रियोद्धार के बाद आपके उपदेशो से प्रतिबद्ध हुए लगभग ४५ मुमुक्षुओ ने आपका शिष्यत्व स्वीकार किया था तथा ३५ के लगभग स्त्रियो ने संयम मार्ग स्वीकार किया था तथा विरक्त थे गुरु और विरक्ति के मार्ग के पाथ थे शिष्य। अतः सब शिष्यों और शिष्याओं का परिचय प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सका। जिन जिनके परिचय मिल सके वे ही प्रस्तुत कर रहा हूँ—

१-श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी विद्वान्, कवि, तार्किक और हाजिर जवाब व्यक्तित्व वाले मुनिरत्न का जन्म किशनगढ

(राज०) के चौपड़ा गौत्रीय ऋद्धिकरणजी की पत्नि अचलादेवी की कोंख से वि. सं. १८९६ के चैत्र शुक्ला ४ को हुआ था। वि. सं. १८९६ में जन्में धनराज ने धानेरा (उ. गु.) के यति लक्ष्मीविजयजी के पास वि. सं. १९१७ के वै. सु. ३ गुरुवार को यति दीक्षा ली। नाम श्रीधनविजयजी हुआ। प्राथमिक अध्ययन अपने गुरु के पास किया। गहन और तलस्पर्शी अध्ययन के लिये पाँच वर्षों तक यति श्रेष्ठ श्रीरत्नविजयजी म. के पास रहे। वि. सं. १९२५ मे श्रीपूज्य श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. ने जिस दिन क्रियोद्धार किया उसी दिन आपने उनश्री के पास दीक्षोपसंपत् ली। आप गुरुदेव के प्रथम शिष्य थे। सं १९२५ के मगसर मे खाचरौद (म. प्र.) मे आपको उपाध्याय पद दिया गया। वि. सं. १९६५ मे जावरा (म. प्र) में आचार्य पद दिया गया। श्रीगुलाबविजयजी, श्रीहँसविजयजी आदि ४ शिष्य थे। मालवा, मारवाड, गुजरात में आपने अनेक स्थानों पर प्रतिष्ठाएँ तथा अंजनशलाकाएँ की। स्तुति प्रभाकर, प्रश्नामृत प्रश्नोत्तर तरंग, जैन जन मास भक्षण निषेध, जैन विधवा पुनर्लग्न निषेध, जैनकल्पवृक्ष और शीलवतीरास तथा देवर्षि गुणरत्नाकर आदि आपके निर्मित ग्रन्थ हैं। स. १९७७ के भादवा सुदी एकम को बागरा (राज.) मे आप स्वर्गवासी हुए।

२–श्रीप्रमोदरुचिजी वि. सं. १८९८ के का. सु. ५ को आपका जन्म भीडर (मेवाड़) के ब्राह्मण शीवदत्तजी की पत्नि मेनावती की कोंख से हुआ था। वि. सं. १९१३ के मा. सु. ५ को भीडर ही के यति श्रीअमररुचीजी के पास आपने यति

दीक्षा ली। प्राथमिक अध्ययन के बाद गहन अध्ययन के लिये आप यतिमुख्य श्रीरत्नविजयजी के पास आये। पाँच छः वर्षों मे आपने यथेच्छ अध्ययन किया। संगीत मे आप सहजगति थे। कंठ माधूर्य के साथ प्रत्येक राग को उसके समय स्वरुप के साथ समझा था। अतः किसी भी राग मे जब आप तन्मय हो जिन गुण गाते तो श्रोता आत्म विभोर हो जाते। कहते है आबु के उपान्त्य मे आपने मेघ मल्हार की उपासना का प्रभाव प्रत्यक्ष किया था।

गुरु भक्ति के साथ सरल और मृदु व्यवहार से अपने सम की उपासना से जीवन मे दिव्यता का अमृत घोल दिया था। आपके मुनि श्रीहोकमविजयजी शिष्य थे। आपकी समस्त रचनाएँ श्री प्रभुस्तवन सुधाकर के दूसरे विभाग मे संग्रहीत है। वि. सं. १९३८ आषाढ़ वदि १४ को बांगरोद मे आपका स्वर्गवास हो गया।

३–उ. श्रीमोहनविजयजी प्रसन्न मुखमुद्रा, विशालभाल, दमकता आनन, भद्रप्रकृति, मधुरभाषी, शान्तस्वभाव, वात्सल्य से उभरता अन्तस् कषायोदीरणा से बचने को सर्वदा सावधान, स्वच्छ और सुन्दर लेखन के धनी एवं परमगुरुभक्त मुनिरत्न श्रीमोहनविजयजी म. गुरुदेव के सब शिष्यों में मूर्धन्य थे। वैयावच्च और स्वाध्याय तप में आपको आनंद की अनुभूति होती थी। आपका जन्म आहोर (राज०) के पच्चिम में ६ कि. मि. दूर सामुजा ग्राम मे ब्राह्मण वरदीचन्द की पत्नि लक्ष्मीबाई की कोख

से वि. सं. १९२२ के भा. व. २ को हुआ था । कर्म-संयोग से जब आप पाँच वर्षों के थे तब बोली बन्द हो गई और हाथ-पैर संघीवात् से ग्रस्त हो गये । चलना फिरना भी नहीं होता था। वि. सं. १९३२ की वर्षा चातुर्मास गुरुदेवश्री की स्थिरता आहोर में थी। एक दिन वरदीचन्द अपने पुत्र मोहन को लेकर गुरुदेव का व्याख्यान सुनने के लिये आया । व्याख्यान के बाद अनेक गुरुभक्त वासक्षेप ले रहे थे। वरदीचन्द ने भी अपने अपङ्ग एवं गुंगे बालक के सर पर वासक्षेप के लिये निवेदन किया। जब गुरुदेव ने वासक्षेप किया, उसके कुछ ही घटिकाओं बाद मोहन बोल पड़ा। सब आश्चर्य में मग्न थे। खुशी से मत्त वरदीचन्द गुरु चरणों में आया। सब बात जान कर भी गुरुदेव मध्यस्थ-भाव में थे। संध्या को पिता ने पुत्र को सामुजा चलने का कहा पर पुत्र ने इन्कार कर दिया। ५-६ दिनों तक समझाने के बाद भी बालक घर आने को तैयार नही था। अन्ततः माता पितादि ने मोहन को गुरु चरणों में अर्पित कर दिया। सं. १९३३ के फा. सु. २ को जावरा (म. प्र.) मे गुरुदेव श्री के करकमलों से मोहन ने प्रवज्या ली। शैक्ष मुनिमोहनविजयजी ने गुरु चरणों में बैठ कर अल्पावधि में ही यथेच्छा अध्ययन किया। आहोर, कोरटादि की प्रतिष्ठा प्रशस्तियाँ आपकी विद्वत्ता की साक्षी है। आपकी लिपी स्वच्छ सुघड़ और सुन्दर थी। आपकी सहजता और सरलता पर मुग्घ हुए आपके बड़े गुरु बन्धु श्रीप्रमोदरुचिजी ने बड़ा सुन्दर लिखा है।

लघु शिष्य सोहे विजे मोह हाथी,
तज्यो मोह संसार बालापणा थी।

विरोची विशुद्धावान लागे सहुने,
भणो शास्त्र वांचो खुशी हो बहुने ॥६३॥
मुनिभ्यास राखो दिवा रात मांही,
कला पूर्ण साधु सिरे स्वच्छ ठाही ।
हजूरे हाजरे रहे पूछता जे,
लहो अच्छ अच्छे गहो गम्य गाजे । ६४॥

प्रभुस्तवन सुधाकर पृ. ४११,

७५ से अधिक ग्रन्थो की प्रतिलीपियाँ आपके हाथों से लिखित आहोर, बागरा, सियाणा, थराद जावरादि के भंडारो मे प्राप्त है। गुर्वादेश स्तवन, सज्झाय पद लावणिया और आवश्यक क्रिया विधियो के अनेक ग्रन्थो की लीपिया की है। क्रियाविधि और समाचारियो के लिये आपके लिखे ही प्रमाण माने जावेगे ऐसी गुर्वाज्ञा गच्छ मे प्रवर्तित है। वि. सं १९५९ मे शीवगंज (राज.) मे गुरुदेव के हाथो आपको पन्यास पद मिला। सं १९६६ मे राणापुर (मालवा) मे तत्कालीन आचार्यवर्य श्री मद्धनचन्द्रसूरिजी ने उपाध्यायपदासीन किया। स १९७७ के पौ. सु ४ को कुक्षी (मालवा मे स्वर्गवास हुआ। आपके नाम पर ही गुरु स्वर्ग भूमि का नाम मोहनखेडा रखा गया।

श्रीमद्भूपेन्द्रसूरिजी—

सरल और शात स्वभाव, सदा प्रसन्नमुख मुद्रा, स्वाध्याय और लेखन एवं वाचन मे जब देखो तब लीन, दीपवत् स्वच्छ मानस मुनि श्री दीपविजयजी मझोले कद और एकवड़ी शरीर

पर ब्रह्मचर्य की दिव्यता से दिप्त थे। आपका जन्म वि. सं. १९४४ के वै. सु. ३ को भोपाल में फुल माली भगवानजी की पत्नि सरस्वती की कोख से हुआ था। आपने सं १९५२ के वै. सु. ३ को आलीराजपुर मे श्री गुरुदेव के हाथो प्रवज्या ली। बालमुनि की सरलता और सहजता से मुनिगण मुन्मिण तथा उपासक वर्ग प्रभावित था। सं. १९५५ मे आहोर मे उपस्थापना दीक्षाली। आपने अपने सत्तीर्थ्य मुनिगण के साथ गुरुदेव से ही अध्ययन किया। अध्ययन की तलस्पर्शिता और बुद्धियुक्त चातुर्य से चारों संघ आप पर उज्ज्वल भविष्य की आस लगाये बैठे थे। संघ की आशा को आपने फलवान् भी किया। वि. सं. १९७३ मे विद्वानो परिषद् मे आपने जन तत्वज्ञान की सम्यग् निरुपणा की। जिससे प्रसन्न हो विद्वानो ने आपको साहित्य विशारद् और विद्याभूषण पद से सम्मानित किया। सं. १९७७ मे श्रीधनचन्द्रसूरिजी एवं उपा० श्री मोहनविजयजी का भादवे और पौष मे स्वर्गवास हो जाने से मुनि मण्डल वी सम्मति से श्रीसंघ ने जावरा [मालवा] मे आपको आचार्यपद दिया गया। नाम 'श्रीभूपेन्द्रसूरिजी' रखा गया। वि सं. १९६३ मे श्रीगुरुदेव ने आपको और श्रीयतीन्द्रसूरिजी महाराज को श्री अभिराजेन्द्र कोष का संपादक नियुक्त किया था। दोनो मुनिवगे के समवेत परिश्रम के फलस्वरूप अभिधान राजेन्द्र का विराट् कार्य समापन हुआ।

सं. १९९० में अहमदाबाद मे हुए मुनि संमेलन मे आपकी सहजता और समन्वयवृत्ति से सब आचार्यवर्य प्रभावित थे।

श्रीदानविजयजी, कल्याणविजयजी आदि पांच शिष्य हुए। श्रीचन्द्रराज चरित्र और जिन गुण मंजरी आदि अनेक ग्रन्थ बनाये। आपका लेखन स्वच्छ था। आपकी लिखी लग-भग २५ प्रतियाँ आहोरादि भण्डारों में उपलब्ध है। गुनपचास वर्ष की आयु में आप आहोर मे स्वर्गवासी हुए।

श्रीमद्यतीन्द्रसूरिजी—

भव्य दिव्य मुखमुद्रा, ब्रह्मचर्य के तेज की दिव्यता से दमकता और चमकता भाल भरा पूरा शरीर परिमित भाषी अभयवृत्ति स्वाध्याय और लेखन मे प्रायः लीन, तल्लीन स्वस्थ विचार प्रमाणोपेत प्रतिपादन और निरुपणा मे दक्ष, परम गुरुभक्त मुनि श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज ने अपने मे गुरुदेव ने रखे विश्वास को यावज्जीवन निर्वाह जिन शासन और जिनवानी पर अटूट विश्वास और तदनुसार वर्तन आपको प्रीय था। गण को आपकी दीर्घदृष्टि और अनुभव से अधिक शताब्दि तक लाभ मिला। आपके अनुभव के लाभ से आज भी गण गौरवान्वित है। आपका जन्म वि. सं. १९४० के कार्तिक सुदी २ को धौलपुर (राजपुताना) में दिगम्बर आम्नायी श्रेष्ठिवर्य श्रीव्रजलालजी की पत्नि चम्पावती की कोख से हुआ था। नाम रामरत्न था। बाल्यकाल मे ही श्री तत्वार्थाधिगम सूत्र तक अभ्यास कर लिया था। माता पिता के वियोग की घटना ने आपको वैराग्य के मार्ग मे अग्रसर कर दिया। किसी दिन भाई भगीनी आदि से विना कहे घर से चल पड़े। तब मालवे मे सींहस्त गुरु का मेला उज्जैन के वजाय महिन्दपुर मे लगा था। कई प्रसिद्ध

योगियों के दर्शन प्रवचन लाभ लेते रामरत्न नगर में जिनालय के दर्शन के लिये आये। उस समय वहाँ पर क्रियोद्धारक गुरुदेव प्रभु श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. जिन स्तवनालीन थे। रामरत्न और श्रीगुरुदेव के वहाँ और उस नगर में तब परिचय हुआ। श्रीगुरुदेव के प्रवचनों ने मुरझाये फूलों विकसित कर दिया। रामरत्न को जो चाहिये था वह मिल गया। दो महिनों के निवास से गुरुदेव ने रामरत्न की तितीक्षा, और प्रोज्ज्वल भावना को देख लिया परख लिया खाचरौद (म. प्र.) से वि. सं. १९५४ के आषाढ वदि २ को रामरत्न ने श्रीगुरुदेव के करकमलों से प्रवज्या ली। नाम श्री यतीन्द्रविजयजी दिया। तब आपकी उम्र का चार हजार नौ सौ पाचवाँ दिन था। बड़ी दीक्षा आहोर में हुई। तीन वर्षो में अभ्यास समापन करके आपने गुरुदेव के लेखन कार्य में सहकार देना प्रारम्भ किया। श्रीगुरुदेव के शिष्यो में आप सूक्ष्म बुद्धि और तेजस्वी थे। आहोर की प्रतिष्टा प्रशस्ति में आपके लिये गौरव पूर्ण उल्लेख है। तेईस वर्ष दो महिनो की उम्र में गुरुदेव ने श्रीदीपविजयजी (बाद में भूपेन्द्रसूरिजी) एवं आपको श्रीअभिधान राजेन्द्र का सम्पादक नियुक्त किया था।

वि. सं. १९७२ में उस समय के आचार्यवर्य श्रीमद्धनचन्द्र-सूरिजी महाराज ने बागरा में आपको 'व्याख्यान वाचस्पति" की पदवी दी थी। आपने वि. सं. १९७८ के उत्तरार्ध में "पीतपटा-ग्रह मिमांसा" का निबंध आगम प्रमाणोपेत लिखा। जिस पर आगमोद्धारक श्रीमद्सागरानन्दसूरिजी और आप के मध्य

रतलाम में चर्चा हो गई । पर अन्ततः पीत के आग्रह का निरसन हो गया । जीत आपके पक्ष में रही ।

वि. सं. १६८० के जेठ में जावरा (म प्र.) में श्रीमद्भूपेन्द्र-सूरिजी ने आपको उपाध्याय पद दिया । वि. सं. १६६५ के वै. सु. १० को आहोर [राज०] मे आपको सोत्सव आचार्यपदासीन किया गया । लेखन और स्वाध्याय आपकी प्रिय प्रवृत्तिया थी । आपने छोटे-बड़े ६० के आस-पास ग्रन्थ लिखे, जिसमे सत्यबोध भास्कर, पीतपटाग्रह मिमांसा, यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन, चार भाग । मेरी गौरवाड़ यात्रा, मेरी नेमाड यात्रा । समाधान प्रदीप दो भाग । श्रीउत्तराध्ययन सूत्र टीका, श्रीयतीन्द्र प्रवचन दो भाग और सत्य समर्थक प्रश्नोत्तरी आदि प्रमुख हैं ।

मुनि श्रीवल्लभविजयजी मुनि श्रीविद्याविजयजी (श्रीवर्तमानाचार्यजी) आदि १८ शिष्य हैं ।

श्रीलक्ष्मणीतीर्थ (म प्र) और श्री मोहनखेडातीर्थ के जीर्णोद्धार आपके प्रयत्न का फल है । कोरटा, भांडवा, जालोर के तीर्थों के उद्धार आपके मार्गदर्शन का फल है ।

मालवा, मेवाड, गुजरात, सौराष्ट्र कच्छ तक आपका विहार क्षेत्र रहा । सितत्तर वर्ष और दो माह का आयुष्य और तिरसठ वर्ष तक चारित्र पर्याय पाल कर, श्रीमोहनखेड़ा तीर्थ में वि. सं २०१७ पौष सुदि ३ वुधवार तारीख २१-१२-६० को आप स्वर्गवासी हुए ।

नाम	जन्म वर्ष	जन्म स्थय	माता	पिता	दीक्षा संवत्	स्वर्गवास
मुनि श्री उदयविजयजी					१९४२	
,, ,, मेघविजयजी					१९४८	
,, ,, विनयविजयजी	पाडीव	१९३०	गंगाबाई	नारायणजी	१९४६	
,, ,, पद्मविजयजी					१९३६	
,, ,, कमलविजयजी	इन्दौर	१९१४	रूपीबाई	स्वरूपजी	१९३६	आहोर
,, ,, टीकमविजयजी	खाचरौद		मृगादे	पृथ्वीराजजी	१९३६	आहोर
,, ,, वल्लभविजयजी						
,, ,, रत्नविजयजी	राजगढ			मनरूपजी	१९४८	
,, ,, रूपविजयजी	खाचरौद	१९१२	जडीबाई	अमरचन्दजी	१९५०	रतलाम
,, ,, लक्ष्मीविजयजी	भेलसा	१९३८	रंभाबाई	अमरचन्दजी	१९५०	मोहनखेड़ा
,, ,, हिम्मतविजयजी	कोरटा	१९०१	राजीबाई	उमाजी	१९२६	फतापुरा
,, ,, धर्मविजयजी					१९४९	माण्डोली
,, ,, केसरविजयजी						तखतगढ़
,, ,, हर्षविजयजी	भोपाल	१९४४	सुखमबाई	कालुरामजी		
,, ,, चिमनविजयजी					१९५४	थराद
,, ,, चन्द्रविजयजी	वाली	१९२७	पनीबाई	टेकचन्दजी	१९६०	
,, ,, नरेन्द्रविजयजी						वेलावदर (रण में)

उपर प्रस्तुत तालिका में गुरुदेव के उन समस्त शिष्यों के नाम है कि जिनके सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री संदिग्ध भी हो सकती है। परम्परा से प्राप्त आख्यानों से ज्ञात हुआ कि श्रीउदयविजयजी, श्रीमेघविजयजी, श्रीरूपविजयजी, ये तीनों मुनिराज घोर तपस्वी थे। श्रीटीकमविजयजी, श्रीरखबविजयजी और श्रीहर्षविजयजी ये तीनो मुनिवर सरल स्वभावी तपस्वी और वैयावृत्य में दत्तचित्त थे। श्रीहिम्मतविजयजी सीधे सरल और धर्मप्रचार में दक्ष थे। तब मुनिश्रीचन्द्रविजयजी निर्मल चारित्र की गवेषणा के गौरव थे। तारीख १२-५-२३ को धोलेरा से वेलावदर जाते मार्ग भूल गये, रण की गरमी ने प्राणान्त ला दिया। भरवाड़ों ने पानी पीने के लिये कहा परन्तु सचित्त पानी था अतः न लेकर सलेखना-अनशन कर प्राण त्याग दिये।

श्रीमद्गुरुदेव के करकमलों से ३५ के लगभग साध्वियों को दीक्षाएँ हुई। प्रयत्न करने पर भी मात्र ग्यारह श्रमणीवराओ का परिचय मिल पाया।

महत्तरीका श्रीविद्याश्रीजी म. प्रखर बुद्धि और उज्ज्वल संयमी थी। आपने व्याकरणादि के अध्ययन के साथ आच अंग सूत्र कंठस्थ किये थे। शिष्याओ को अध्यापन आप स्वयं कराती थी। प्रवत्तिनीजी श्रीप्रेमश्रीजी म. कर्म सिद्धान्त की ज्ञाता थी और गुरु समाचारी के अनुसार संयम गवेषणा में लीन थी। गुरुणी श्रीमानश्रीजी म. सिद्धान्त ज्ञात पुण्यशालीनी आत्मा थी।

शुद्ध चारित्र की गवेषणा में एक थी तब स्त्री वर्ग के साथ पुरुष वर्ग को भी जिनवाणी का अमृत सहज में पीला देने वाली धर्म माता थी। श्रीमनोहरश्रीजी, भावश्रीजी और विनयश्रीजी ये तीनों श्रमणीवराएँ विदुषी और संयमी तथा सेवाभावी थी।

श्रीरायश्रीजी म. के जीवन का प्रत्येक क्षण संयम से आलोकित था। अतिचार की संभावना इनके जीवन मे असंभव थी।



नाम	जन्म स्थल	जन्म संवत्	माता	पिता	दी० सं०	स्वर्गवास
श्री अमरश्रीजी	आहोर	१९०१	अतियाबाई	टीकमजी सेठ	१९३३	दाहोद
श्री लक्ष्मीश्रीजी	आहोर			नेमाजी	१९३३	आहोर
श्री कुशलश्रीजी	आहोर	१९१४		गोडीदासजी सेठ	१९३३	आहोर
श्री विद्याश्रीजी	राजगढ	१९१३	नन्दीबाई	देवीचन्दजी	१९३४	राजगढ
श्री प्रेमश्रीजी	काबा	१९१५	लक्ष्मीबाई	उमाजी	१९४०	वडनगर
श्री मानश्रीजी	भीनमाल	१९१४	नन्दाबाई	दलीचन्दजी	१९४१	आहोर
श्री मनोहरश्रीजी	राजगढ	१९२८	दोलीबाई	जवरचन्दजी	१९४८	बागरा
श्री भावश्रीजी	हरजी	१९३४	नाजुबाई	वनेचन्दजी	१९५४	आहोर
श्री विनयश्रीजी	आहोर	१९३६	सोनीबाई	अमराजी	१९५४	शीवगंज
श्री रायश्रीजी	आहोर		रतनबाई	माणकचन्दजी	१९५६	खाचरोद
श्री रूपश्रीजी	देवावा		नेनाबाई	गेनाजी	१९५६	१९८०

स्वर्गवास



यह संसार है। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद ध्रौव्य और व्यय की क्रिया-प्रक्रिया सतत् होती रहती है। उदय के साथ अस्त और विकास के साथ ह्रास नियति का नियत निधान है। प्रकृति के अपने नियमों में न कभी परिवर्तन हुआ और न कभी होगा। बड़े से बड़े शक्ति शाली और उन सूरमाओ को कि जिनकी एक आवाज पर कुछ का कुछ हो सकता था। उन्हे भी मृत्यु की गोद से कोई नही बचा सका। कोई ऐसा मन्त्र या औषध आविष्कृत ही नही कि जो मृत्यु पर विजय दीला दे। यहाँ पर जीवन के साथ अन्त का लेख अवश्यंभावी है। अतःएव निर्ग्रन्थ प्रवचन में कहा है।

'जाये जीव मरेवा"

निश्चित् आयु मे एक भी पल की घटा बड़ी किसी के हाथ नही है। जन्म जीवन और मृत्यु यह क्रम अटल और निश्चित है।

बहुमुखी व्यक्तित्व और प्रतिभा के धनी परमपूज्य श्रीगुरुदेव क्रियोद्धार के बाद तेरह हजार आठ सौ बहत्तर दिन जीये, याने ३८ वर्ष ६ महिने और बारह दिन। वर्षावास के दिनो को छोड़

कर सदैव आप-ग्राम-ग्राम नगर-नगर विचरण करते रहे। वि. सं. १९६० के शीतकाल मे किसी रात्रि ध्यान में अवस्थित आपने अपने वर्तमान जीवन के अन्त के समय का आभास पा लिया था[१] जीवन के अन्त का आभास पा कर आपने अपनी साधना को उग्रतर कर दिया था। जेठ वैशाख की चिलचिलाती धूप में पत्थोरो पर या रेत मे खुले बदन आतापना लेना सहज हो गया था तो पौष माघ की हडकंपी सर्दी मे पूरी-पूरी रात अवस्त्र हो कर पर्यंकासन या खड्गासन से आप ध्यानारूढ रहते थे। अनेक सेवाभावी और मेघावी शिष्यों के गुरु थे आप पर गर्व का कोई चिह्न नही था। अपने उपकरण आप ही उठाना नियम था[२]। क्रियोद्धार के बाद यावज्जीवन मात्र रात्रि मे ही एक प्रहर निद्रा लेते[३] कभी-कभी तो ध्यान अथवा अनुप्रेक्षा मे निमग्न हो जाते तो दो-दो तीन-तीन रात्रि तक निद का नाम ही नही। क्रियोद्धार के दिन के बाद कभी स्वप्न मे भी आचारशिथिलता आप के पास नही फटकी[४]। प्रातः क्रियाएँ हुई कि देव दर्शन, शिष्यों को अध्यापन, व्याख्यान, लेखन क्रिया स्वाध्यायादि का ऐसा सातत्य रहता कि मन को कही भटकने का अवसर भी मिलता नही।

---

१ अथाहं त्रीणि वर्षाणि, वहरिष्यामि भूतले ।। ४७५ ।।

२ ज्यायस्यामप्यवस्थायां, स्वीयोपकरणान्यपि ।
शिष्यैरवाहयन्नित्यं,-मुवाह स्वयमेव सः ।। ४४५ ।।

३ याम मात्र रजन्या स, निदद्रौ नहि वासरे ।। ४४७ ।।

४ शिथिलाचार संगस्तु नैच्छत्स्वप्ने कदाप्यसौ ।। ४४६ ।।

—श्रीराजेन्द्र गुण मंजरो

प्रत्यक्ष दर्शियों और शिष्यों से हमने सुना है कि गुरुदेव का जीवन फूल-सा स्वच्छ और सुरभित था। सुचरित का तेज मुख मंडल पर झलकता था। आपका हृदय नवनीत के समान कोमल था। वाणी द्राक्षा के समान मधुर थी तब कृतसंकल्प को यथार्थ रीत्या पूरा करने में चट्टान के समान सुस्थिर और अडीग भी थे। प्रमाद और आचार की दुर्बलता आप को नापसद थी। आचार शिथिलता के निष्काशन मे आप बज्र से कठोर भी थे। जब आपने जीवन के चौथे दशक मे शिथिलाचार निवारण का शुभ संकल्प को यथार्थ रीत्या पूरा करने मे चट्टान के समान सुस्थिर और अडीग भी थे। प्रमाद और आचार की द्रुबलता आप को ना पसंद थी। आचार शिथिलता के निष्काशन मे आप बज्र से कठोर भी थे। जब आपने जीवन के चौथे दशक में शिथिलाचार निवारण का शुभ संकल्प किया, तब उस संकल्प से आप को पराङ्मुख करने के लिये यतियो और यति पूज्य ने प्रलोभन दिये। जब प्रलोभन कारबार नही रहे तो उनने अनुकूल और प्रतिकूल प्रयत्न से आप को पराजित करने के सब प्रयत्न किये पर आप निर्भय और अचल रहे। सफल जीवन जीया आपने। जब शरीर को वृद्धावस्था ने आक्रान्त कर दिया, तब भी आपको तरुणो के समान तरोताजा और उत्साहवंत देख कर सब चकित रह जाते थे[१]।

---

१ स्वास वृद्धया परं मार्गे, यात्राभावं विमुच्य सः ।।
क्रमाद्राजगढं प्राप, चरमार्हद्दिदृक्षया ।। ५२७ ।।

—श्रीराजेन्द्र गुण मंजरी

वि. सं. १९६३ का चातुर्मास बड़नगर (मालवा) में किया। चातुर्मास के उत्तरार्ध में दीपमाला के अवसर पर आपने आठ उपवास करके ग्यारह अंग सूत्रों का मूल स्वाध्याय किया। पारणे के बाद शरीर दुर्बल होगया और श्वास का रोग होगया। शिष्यों और उपासकों ने औषध ग्रहण के लिये निवेदन किया तो आपने मुस्कान के साथ निषेध कर दिया। अब आहार में सब विगयो का प्रायः वर्जन होने लगा। स्वाध्याय, ध्यान और अनुप्रेक्षादि में अधिक से अधिक समय जाने लगा। कार्तिक पूर्णिमा को विहार करके रतलाम की ओर पधारे। इधर बड़नगर वालों की भावना आपकी नेश्राय में माडवगढ तीर्थ की यात्रा करने की थी। रतलाम से आप पुनः बड़नगर पधारे। धार नरेश की भावना थी आप सघ सहित धारा में कुछ दिन बिराजे। तब राजगढ़ के अग्रेसरों की भावना थी कि पहले राजगढ पधारें। भावी के संकेत से सावधान थे आप। कड़ोद से दशाई तक का मार्ग बड़ी कठिनता से पार हुआ। स्वास के कारण चलने मे व्यवधान हो गया। धार और झाबुवा के राज चिकित्सको ने उपचार का प्रक्रम करने का निश्चय किया, परन्तु श्रीदीपविजयजी के निवेदन पर श्रीगुरुदेव बोले—

तित्थयरा य गणहारी, सुरवइणो चक्कि केसवा रामा।
कालेण य अवहरिया, अवर जीवाण का वत्ता ॥

जब तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ति, वासुदेव और बलदेवादि उत्तम पुरुषो की भी काल के गाल में समाना पडा तो अन्य जीवो की क्या बात ? जन्म के साथ मृत्यु का तो ध्रुव सम्बन्ध है।

श्रीगुरुदेव के दृढ निर्णय के सामने सब मौन और नत मस्तक थे। प्रातःकाल में आपने संघ सहित राजगढ़ की ओर विहार किया। अन्तवासियों ने उपकरण मांगे तब आपने फरमाया-अब थोडा ही तो जाना है। श्रीगुरुदेव के इस वचन का परमार्थ श्री यतीन्द्रविजयजी ने समझ लिया। चतुर्विध संघ को आपने साव-धान कर दिया। कर्णोपकर्ण यह सवाद फैल गया कि गुरुवर ने १९६० में अपने जीवन की अवधि तीन वर्षो की करी थी सो सब चिह्न भी दीख रहे है। पौष वदि १० को राजगढ़ पधारे।

श्रीगुरुदेव के शरीर को रोगाविष्ठ देखकर सघ आतंकित था। शिष्यगण यद्यपि निपुण, दक्ष और प्रवीण था तथापि गुरु विरह की विभिषिका से स्तब्ध था। राजगढ़ संघ द्वारा भेजी सूचना पाकर प्रवर्तिनी श्री प्रेमश्रीजी श्री श्रीमानश्रीजी मनोहर-श्रीजी, रायश्रीजी, भावश्रीजी आदि साध्विया भी आ पहुँची। स्वास का उपद्रव तो था ही ज्वरने भी दिखावा दिया, तब शरीर वृद्ध था। अतः स्वास, ज्वर और जरा तीनो का सममेत आक्र-मण शरीर पर हो गया। परन्तु गुरुदेव प्रकृतिस्थ थे। सयम साध्वाचार के सब करणीय समय पर हो रहे थे। दो वस्त्र एक आसन तक परिग्रह सीमित हो गया था, अप्रमत्त भाव से गुरुदेव अपनी आराधना मे प्रलीन और तल्लीन थे। मौन थे। पौष वदि चौदश का प्रतिक्रमण सकल संघ को आपने स्वय ने करवाया-निराश और हताश संघ मे चिन्ता का राज्य था। पौष शुक्ला तीज के मध्याह्न तक सारे मालवे के सघाग्रणी आ गये थे। मध्याह्न में आपने मौन खोला। विशाल उपाश्रय जनाकीर्ण था। सब मौन थे, किन्तु अनहोनी का आतंक सब के माथे चढ़ा था।

स्वास ज्वर और जरा ने गुरु शरीर को परेशां कर रखा था, तब गुरुदेव उसी सदा वाले आनंद स्वभाव में मग्न थे । उपस्थित संघ को हितशिक्षा रूप धर्मोपदेश दिया । संघ में फैली चिन्ता का निराकरण करते हुवे आपने फरमाया– "शिष्य सब निपुण और दक्ष है, ये सब संघ के कार्यभार को उठाने में समर्थ और सशक्त हैं[१] । चतुर्विधसंघ की उस सभा में आपने अपने विद्वान और प्रतिमा सम्पन्न दो शिष्यों मुनि श्री दीपविजयजी (श्रीभूपेन्द्रसूरिजो) और श्री यतीन्द्रविजयजी (श्री यतीन्द्र सूरिजी) को श्री अभिधान राजेन्द्र के सपादनादि का कार्य सौंप कर कहा– "मुझे जो करना था, वह पूरा कर दिया, अब जिन उपायो से निखिल जनता का उपहार हो, वह तुम करने योग्य हो । अब इस कार्य में हम तटस्थ है[२] । चतुर्विध सघ की उसी सभा में आपने शिष्यों को हितशिक्षा देते हुवे फरमाया–

मुनियो ? यह संसार है । यहाँ पर जो भी, जितना भी दीखता है. वह सब उत्पत्ति के साथ व्यय लीला युत है । जीवन के साथ मृत्यु का अनिभाज्य सम्बन्ध है । ज्ञानियों ने मृत्यु को परिवर्तन मात्र समझा है । अज्ञानी मृत्यु से बचने का प्रयास करता है, पर मृत्यु का आना, अटल है । सब को अपने अपने

१ पुनर्भोः ? सन्ति मत्पृष्ठे, शिष्याः संघोपदेशकाः ॥
धर्मकार्यधुरं वोढुं, भविष्यन्ति यथोचिताम् ॥ ५५२ ॥ रा० गु० मं,

२ अहमात्मीयं करणीयं पूर्तिमनयतः परं येनोपायेन निखिललोकोपकारः स्यात् स तु युष्माभिः कर्तुमर्हः, किन्तु वयमत्रार्थे तारस्थ्यमुपगताः ॥
अ० रा० प्र० भा० उपोद्घात पृ० २

आयुष्य के समापन होने पर जाना है। इसमें किसी का कोई विधान, तर्क, मन्त्र या औषध कार्यकारी नहीं है। इस युग के वातावरण के अनुसार हमारे जीवन की सांध्य वेला आ गई है। भास हो रहा है कि संध्या रात में परिवर्तित होने वाली है।

क्रियोद्धार के पहले और बाद में, जितनी भी बनी हमने शासन की सेवा की है। शासन–हित साधना में हमें अनेक बार अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। कष्ट को हमने सुख मान कर सहन किया। कष्टों ने हमारी कार्यशक्ति को उजागर किया। धीरज और सहिष्णुत्व के बल पर विरोध और विरोधियों को हतप्रभ किया जा सकता है यह नीतिमार्ग है। जीवन की इस सांध्य वेला में हमको मात्र "स्व" में समाविष्ठ होना है, अतः आज से इस गच्छ का सब भार तुम सब पर है।

निजधर्म प्रचार और उपासना संयमी के जीवन का मंगल कार्य है। इस कार्य में कभी अनुदार मत बनना। किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति मे संकुचित मानस मत बनना। तत्व विचारणा और समीक्षा मे मध्यस्थता एवं अनाग्रह वृत्ति से काम लेना। यथार्थ को स्वीकार करने मे कभी विलम्ब मत करना। सत्य सब का है। जो हमारा है सो ही सच्चा है यह हठ है। हठाग्रह ग्रहित व्यक्ति तत्वबोध प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है। विभिन्न प्रकारों से सत्य की परीक्षा होती है। एक ही प्रकार की पद्धत्ति का आग्रह नया भास है। जो नया भास है

वह अस्वीकार्य है। पर्वत एक है उसे विपरीत दिशाओं से देखने पर वह एकसा नही दिखता, फिर भी पर्वत है ही। इसी प्रकार तत्व परीक्षण मे नय मार्ग से यथार्थ तथ्य की प्राप्ति होती है। अत तत्व विचारणा के अवसर पर आग्रही मत बनना।

किसी भी कार्य को योग्य रीति से करने के लिए दृढ मनो बल अविचलता अत्यावश्यक है। कर्तव्य पालन से कभी पराङ्-मुख मत बनना। रत्नत्रय का विकास साधु के जीवन का प्रथम कर्तव्य है। इसमे कभी आलस्य मत करना। समभाव साधु का लक्ष्य है। यह लक्ष्य प्रत्येक समय होना चाहिये। लक्ष्य पतित का जीवन भार है।

इर्ष्या, द्वेष, घृणा, कषायादि के फल कटु है। ये चारित्र के जीवन मे बिगाड़ करते हैं। इनका साहचर्य त्यागने योग्य है। श्री जिन शासन की प्रभावना होवे वे कार्य सदा करना। साधु के जीवन का मूल श्रद्धा है। श्रद्धा रहित क्रियाचरण मात्र दभ जैसी आत्म वंचना अन्य नही हैं। दुष्प्राप्य ऐसा संयम-धन तुम्हें किसी शुभोदय से मिला है। संयम की निर्मलता संयमी के जीवन का अलकार है। जब तक जंघाबल क्षीण नहीं हो ग्रामानुग्रम विहार-परिभ्रमण करते रहना। विहार चर्या से अपन को और उपासक की फायदा होता है। अकारण एकस्थानाश्रय से संयम के पलिमंथुओ की संभावना संभव होती है। परिभ्रमण शिथि-लता से संयम-शील में शंकावकाश भी हो सकता है। अतः नियत कल्प मर्यादा के पालन में जागृत रहना। विषय-कषायों से मन को रोकने के लिये भेद-ध्यान को ध्यान में रखना। काम-

नाओं का अतिक्रमण और दोषों का प्रतिक्रमण सदा करो। अल्प-क्षीण सुख के लिए महान् परमार्थ का ध्वंस मत करना। समत्व की प्राप्ति के लिये साम्य भावना के सुमेरु पर आरुढ़ होना जरूरी है। अतःएव निज स्वरूप रमणता में कभी प्रमाद मत करना। प्रमाद बन्धन है तो अप्रमाद जीवन है। श्रीजिन वाणी के आलोक में अप्रमत्त भाव से चलते रहना। बीता समय मिलता नही है। सो सदा कर्म-क्षय के मार्ग में गतिशील रहने का उद्यम करते रहना। यह जीवन का मंगल मार्ग है। इस मंगल-मार्ग पर चल कर अनन्त अनंत जीवों ने सुखोपलब्धी की है। अतःएव अप्रमत्त भाव से सिद्धों के मार्ग पर चल कर सिद्धि वरो।

मृत्यु तो तनुधारियों के जीवन का अन्त्य मंगल है। हमारे परलोक प्रयाण का शोक मत करना शोक कर्मबन्ध का निमित्त है। आत्मा तो अमर है। अविनाशी है। यह देह नश्वर है। इसके पतन का अमर और अविनाशी क्यों शोक करे? तो शिष्यो! भगवान् अरिहन्त प्रभु की वाणी का आलोक तुम्हारा, हमारा और सब का कल्याण करने वाला है, वह सब को प्राप्त हो। रखो यह मंगल मय सदा शुभ भावना।

इस प्रकार शिष्यों और उपासकों की ओर से कृतकार्य हो कर जीवन की अन्तिम आराधना करने के लिये संलेखना अनशन करने की घोषणा की। चतुर्विध संघ उदास था और विवश भी था। सर्व प्रथम श्री संघ से क्षमापना की। शिष्यों ने अपने

अविनयादि दोषो की जब क्षमापना[1] की तब आपने परम मृदु भावों से उन अपने शिष्यगण की क्षमापना करते हुए कहा—

सारणा वारणादि करते हुवे मैंने सुशिक्षा देने के लिये अथवा तुम्हारे जीवन को प्रोज्ज्वल बनाने के उद्देश्य से तुम्हारी आत्मा को मुझसे कभी भी किसी भी प्रकार से दुःख हुवा हो तो मेरे उस अपराध को तुम क्षमा[2] करना। इस प्रकार गुरु शिष्य परस्पर में हाथ जोडे क्षमापना करे, देख कर संघ में श्री जिन शासन की महत्ता प्रसरी। अवाच्य भावों का उद्रेक वहाँ हो रहा था। आँसू भरी आँखों से सब देख रहे, जीवन की अस्सी बसन्त जिसने देखी है। जिसने जीवन में मानापमानादि खूब देखे है वे परम गुरु अब जीवन की अन्त्य क्रिया कर रहे थे। जिनालयों में जाकर परमोज्ज्वल भावो से प्रभु दर्शन करके आकर सर्व प्रथम ऐर्यापथ प्रतिक्रमण कर दो वस्त्रों का मात्र परिग्रह रख कर सब का त्याग किया। पांचों महाव्रत और पंचाचारो के अतिक्रमादि अतिचारों की आलोचना की ज्ञात अज्ञात स्वल्प भी स्खलनाओं को याद करके आलोचना की।

१– ज्ञाताऽज्ञातादियोगेन, भवदाशातना कृता ॥
क्षन्तव्य पूज्य ? तद्दोषा-नस्माकन्तु दयावता ॥५६०॥

२– मयैताभिः सुशिक्षाभि श्चेमात्मा वश्च दु खितः ॥
शिष्या ? वानुपयोगेन, क्षमध्वं मे तदागसम् ॥५६२॥

३– सच्छरणानि चत्वारी, गृहीत्वैवोचितान्यसौ ॥५६३॥
दत्वा संयमदोषाणां, मिथ्यादुष्कृतमादरात् ॥
जग्राहाऽनशनं जैना गमरीत्या समाधिना ॥५६४॥

—श्रीराजेन्द्र गुण मंजरी



सूर्य उत्तरार्ध गति पर था। श्रीगुरुदेव ने पौष सुदि ३ को ही व्याख्यान के पाट के पास ही पद्मासस्थ हो कर अनशन स्वीकार किया[२]। तीज का शेष भाग चौथ पांचम और छट्ठ गई। छट्ठ की रात्री प्रारम्भ हुई। समस्त संघ देख रहा था, शिष्यगण गुरु की अन्त्याराधना में अप्रमत्त हो सहकार कर रहा था। घड़ी में आठ बजे कि ध्यानस्थ गुरु ने क्षण मात्र के लिये आंखे खोल कर सब को देखा। करबद्ध हो बोले– "वेरं मज्झं न केणइ, मित्ति मे सव्व भूएसु," आखे पुनः बंद की। तब उपाश्रय के समिप से झालर के झंकार की ध्वनि आई। गुरुदेव के मुख से ॐ अर्हन्नमः का स्वर निकाला। घड़ी में आठ पर आठ का समय आया कि गुरु का स्वर तेज हो कर मंद होने लगा। सब सावधान थे। शिष्यों और संघ का स्वर सुना जा रहा था। गुरु का स्वर गायब था। मुनि रूपविजयजी ने गुरु शरीर का स्पर्श किया। उनने संकेत मात्र किया। सब समझ गये कि प्रोज्ज्वल चारित्र के पालक गुरुदेव की आत्मा ने परलोक प्रयाण कर दिया।

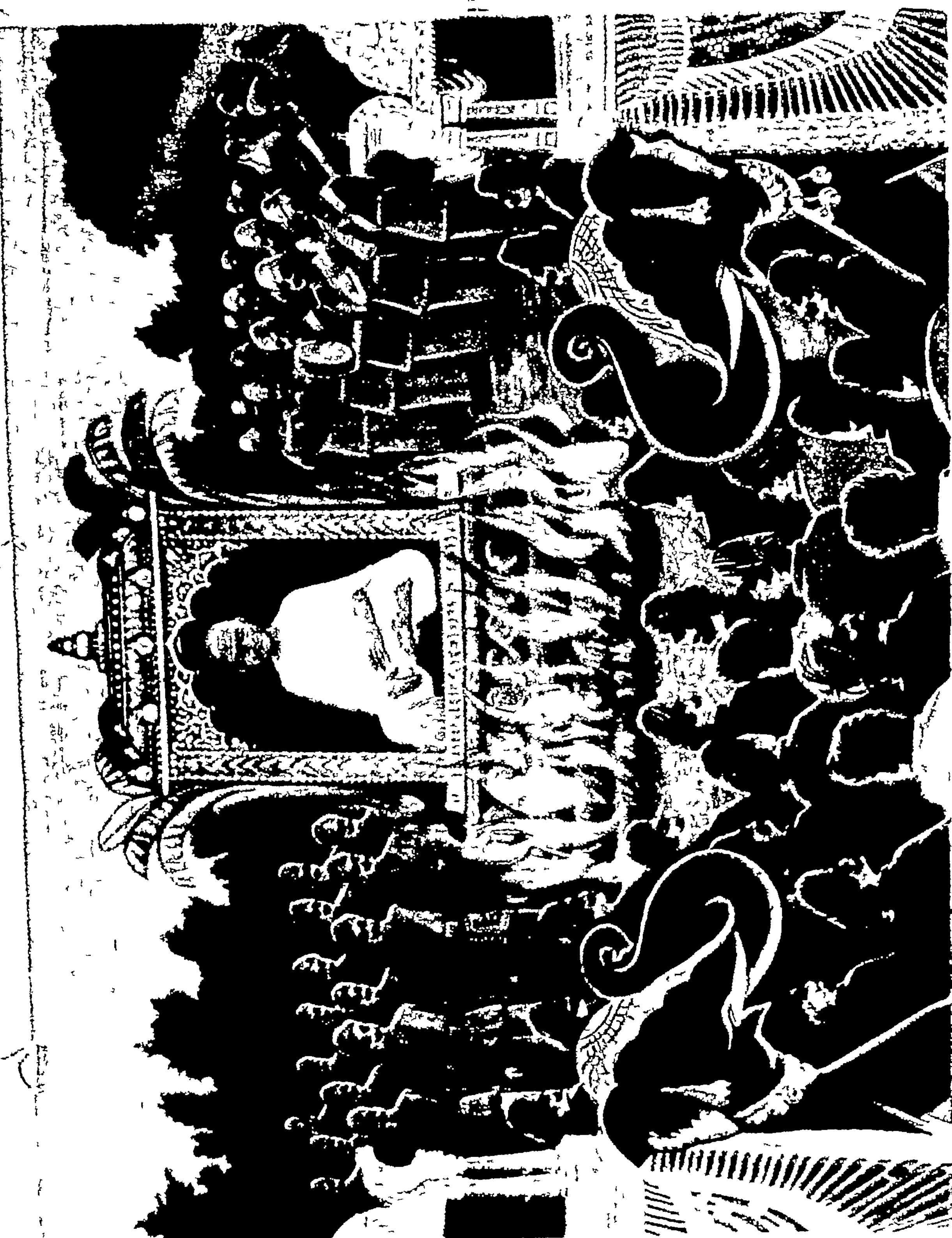
शिष्यों और संघ के प्रत्येक व्यक्ति का मन अव्यक्त और अवाच्य वेदना से क्लान्त था। नियति के नियत विधान को स्वीकार करने के अलावा और क्या उपाय थे ?।

जिस श्रद्धा और विश्वास तथा आत्मबल के सहारे आपने जावरा में क्रियोद्धार के समय संघ के समक्ष निरतिचार साधना की प्रतिज्ञा की थी, वह जीवन के अन्त तक यथावत् रही। आये परिषहों को समभाव से सहा शिथिलता का निवारण

करके आपने श्रीजिनशासन की महती सेवा की। आपका पूरा जीवन २८८०० दिनों का था। ४० वर्षों तक आपने आचार्य पद को शोभित किया। गाँव-गाँव नगर-नगर भ्रमण करके धर्मोपदेश देकर भव्य जीवों को प्रबोध दिया।

इस प्रकार यह महान् विभूति जो यौवन के आंगन में प्रवेश करते ही भरापूरा और स्नेहिल परिवार छोड़कर, आराधना के मार्ग पर कदम बढाकर अग्रसर हुई थी। अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों के सामने जिसने झुकना सीखा ही नहीं था। वह उसी श्रद्धा, निष्ठा और उत्साह तथा दृढ मनोबल के साथ जीवन की संध्या तक निरंतर जागरुक रह कर, अपने लक्ष्य को समीप करती हुई, सं० १९६३ के पौष शुक्ला ६ की रात इस विनाशवान् देह को छोड़ कर चली गई।

शिष्यगण गुरु विरह से संतप्त थे तो संघ भी शोकाकूल था। चारों सघ में उदासी का वास था। मुनि श्रीरूपविजयजी ने सब को धैर्य दिया। सघ को अब जो कार्य करना है उसका सकेत किया। अग्रेसरों ने अवसरोचित्त कार्य किये। पहले से ही अनेक ग्रामों नगरो के भक्त इतने आ गये थे कि राजगढ़ जनाकीर्ण था। प्रातः होते-होते तो हजारो भक्त और आ गये। सब गुरु के गुणों को याद कर रहे थे। दिन के मध्याह्न में अन्त्य यात्रा प्रारंभ हुई। राजगढ़ से श्री मोहनखेड़ा तक २॥ किलो मिटर का सारा मार्ग मानव भीड़ से पटा था। श्रीमोहनखेड़ा के प्रांगण में गुरु शरीर का अन्तिम संस्कार किया गया।



बड़ा विचित्र संयोग रहा कि तीर्थ स्थापना का उपदेश देने वाले गुरु के शरीर का अन्तिम संस्कार वहीं हुआ। अन्त्य विधि के स्थल पर श्रीसंघ ने दिव्य और मनोहर स्मारक बनवाया है। जहाँ पर भव्य गुरु प्रतिमा विराजमान है।

॥ अलम् ॥



वन्दना !

卐

इस उर्वरा धरती के उदर में अनेक फूलों ने जीवन धारण करके इस धरती को पराग, सौन्दर्य और सौरभ समर्पित किया है। हर फूल की अपनी विशेषता और महत्ता है। फूलों के साथ शूले भी पैदा होती है। फूल और शूल के प्रभाव प्रत्यक्ष हैं। फूलों ने आनन्द की प्रभावना की है तब शूलों ने अपनी तीखी नौक से दर्द का प्रतिनिधित्व किया है। इसीलिये फूलों को आदर और शूलो को तिरस्कार मिला है।

मानव भी इस धरती माता का पुत्र है। अपनी जिंदगी को सजाने और संवारने के समय फूल और शूल दोनो उसके सामने है। यदि मनुष्य शूल को अपना जीवन साथी बनाता है तो तिरस्कार दुत्कार और घृणा का पुरस्कार उसके जीवन को दुभर करता है। यदि मनुष्य फूलो को अपना जीवन प्रतीक बनाता है तो वह अपने जीवन में सत्कार, आदर और स्नेह का पुरस्कार पाता है। उसका जीवन आदरणीय और अनुकरणीय होता है। शूल और फूल दोनो प्रतीक है उत्थान और पतन के। शूल का साहचर्य गतिभंग करता है तब फूल का साहचर्य

ताजगी और तरावट देता है। फूलसी जिंदगी जीने वालों ने मानवगण का नेतृत्य किया है। उसके दिखलाये पथ का अनुसरण करके लाखों लाख भव्य जीवों ने अपने जीवन-दीप को स्नेहाप्लावित किया है। श्रीतीर्थंकर भगवान अरिहंत प्रभु की अनेक उपमाओं में एक फूल की उपमा भी है।

संयम तप अहिंसादि पुष्पों के पराग से अपने जीवन को सुरभित करने वाले महानुभाव पंच परमेष्ठि पद में प्रविष्ठ होते है। गुणगरिष्ठ हुवे वे ज्ञान दर्शन चारित्र के समीकरण से जीवन का उर्ध्वीकरण करते हुवे व्यक्तित्व का इतना परमोच्च विकास करते है कि व्यक्ति समष्ठि और परमेष्ठि। कूप, तालाब और सागर से उपमित होता है। पंच परमेष्ठि में साधक साध्य और सिद्धि समक्ष है। आचार्य सिद्धि सौख्य के दाता है। साधु और पाठक, सिद्ध और अरिहंत मध्य में है आचार्य। जिनका जीवन अहिसा सयम तपादि फूलों के पराग से सभर है। वे हजारों के पथदाता हैं। जीवन दाता है। साधु के जीवन के रक्षक है। त्राता और उद्गाता हैं आचार्य-गुरु का कृतज्ञ सिद्धि पाता है और कृतघ्न भटकता है। परन्तु किसी दुर्दैववश जीवन सुख का यही केन्द्र मंदज्योति और शिथिल हो जावे तो गजब हो जाता है। अन्धेरी रात में दीप के गुल हो जाने पर राही जिस वेदना और कष्ट का अनुभव करता है और मध्य सागर में नाव का पैदा फूट जाने पर जो हालत होती है यात्रियों की उसकी कल्पना ही हृदय में अवाच्य वेदना करती है, वही हालत

होती है तब जब गुरु पद पर शिथिलता और सुखशीलता हावी हो जाती है।

मध्यकाल मे हमारे गुरु पद की भी यही दशा हो गयी थी। प्रयत्नों के बावजुद भी सफलता नही मिली। मिली तो अल्पजीवी रही। किन्तु किसी शुभ का संयोग रहा कि गुरु पद गौरव के आसपास जमा हुवे कचरे को साफ करने का संकल्प लिये मुनिवर श्रीरत्नविजयजी ने वि० सं० १९२० के चैत्र सुदि १३ को श्रीराणकपुर में निर्णय लिया। शुभ और बलवान वेला मे सबल चेतना ने सबल निर्णय लिया था। कुछेक वर्षों के बाद इस निर्णय के सुफल चारों तीर्थों को मिले। मुनिप्रवर श्रीरत्नविजयजी ही गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म० है। संयम रूप फूल की सौरभ से सुरभित जीवन है आपका। आपकी निर्दोष संयम यात्रा के बखान परगण के मुनि भी मुक्त कंठ से करते है। वि० सं० १८८३ के पौष सुदि ७ को जन्म और १९६३ के पौष सुदि ७ को स्वर्ग। बराबर ८० वर्षों का सफल जीवन। २८८०० दिनों की जिन्दगी। जीवन के बयालीसवें वर्ष मे आपने अपने संकल्प को मालवे के नगर जावरा में अमल में लाया। क्रियोद्धार क्रांति का बिगुल था। क्रांति-बिगुल की ध्वनी ने दिग् दिगन्त मे फैल कर शिथिलों के खेमो में हल-चल मचा दी। वे हड़बड़ाये, घबराये, लड़खड़ाये विरोध के प्रचण्ड उठे। पर शारदा बादलों का गर्जन था। दृढ और समर्थ तथा सशक्त हाथो मे क्राति की मशाल थी। उसे बुझाने के प्रयत्न करने वालो के ही हाथ पीछे पड़े। इस क्रांति ने संघ के प्रत्येक घटक

को सुव्यवस्थित और सबल किया। क्रांति के सुफल का स्वाद संघ को मिला। इस क्रियोद्धार क्रांति का एक पक्ष नहीं अनेक पक्ष है। इस क्रियोद्धार क्रांति के ये पक्ष हैं।

१ यति (साधु) संस्था का काया कल्प,
२ साध्वाचार का प्रचार।
३ साधु और संघ के बीच तालमेल।
४ जिन, जिनबिंब और जिनवाणी की उपादेयता का प्रचार।
५ शब्दों के सम्यग अर्थ निर्णय के लिये कोषों का निर्माण।
६ उपासक की मनस्थिति में अभय का संचार।
७ ज्ञान और क्रिया की सम्यग् प्रतिष्ठा।
८ क्लेशवार्ताओं का दफन।
९ उपासना में से सराग का निष्काशन।

क्रियोद्धार क्रांति के इन केन्द्रों से जब गुरुदेव के जीवन में झांकने का यत्न किया जाता है तो मालूम होता है कि आप श्री जिनशासन के गौरव दीप की ज्योति को पुनः प्रकाशमान करने के लिये ही जन्मे थे। कार्य किया और कार्य करके चल दिये। अवसर और आवश्यकता के ऐन मौके पर आपका जन्मना सार्थक और सफल रहा। आपके जीवन से पहले भी क्रियोद्धार हुवे किन्तु आपकी क्रिया-शुद्धि का अभियान ठोस और सबल रहा। गिरि-कंदराओं और अरण्यों में तप करना, साहित्य का निर्माण करना। सतत विहार करना। अपनों ही की उद्दंडता का उन्मुलन करना। संघ को जिनवाणी का अमृत पिलाना। विलास और भ्रांति के

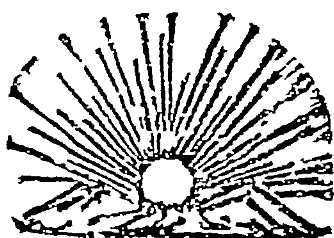
कंटक भरे मार्ग से धर्माधिकारी को संयम का मार्ग दिखाया। राजसत्ता को धर्म मे हस्तक्षेप करने से वर्जित किया। संयम मार्ग के पांथ के शिथिलता रूप रोग का उपचार करते हुवे चिकित्सक सी ममता और कठोरता भी आपके जीवन मे थी। श्री जिन-शासन की विजय वैजयंती को फहराने वाले, युगपुरुष क्रियोद्धारक, तपस्वी, त्यागी, वैरागी, युगप्रभावक, परम पुरूष गुरुदेव भगवन्त प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी म० सा० के चरण कमलों में

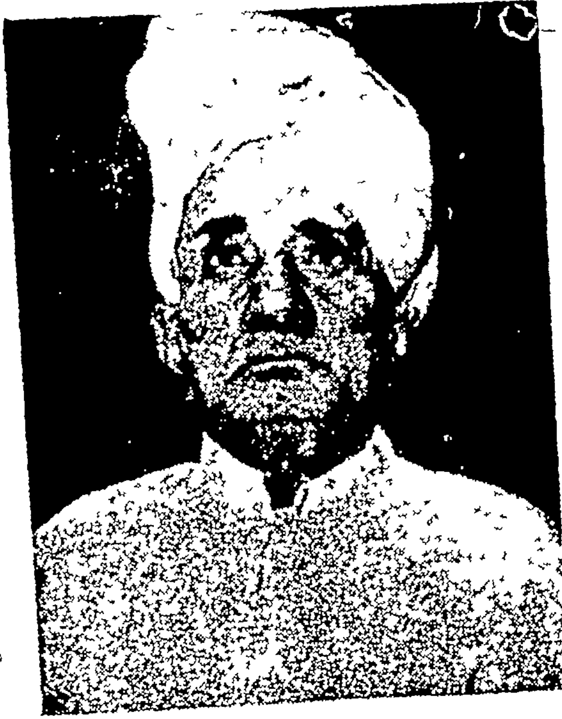
वंदना !

वंदना !!

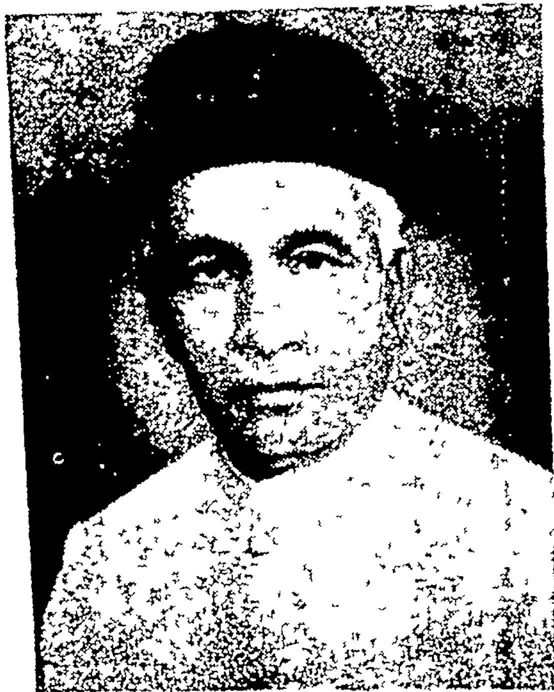
हजार बार

वंदना !!!





श्री खुबचन्दजी रखबचन्दजी पीपाड़ा, इन्दौर



श्री हस्तीमलजी खुबचन्दजी पीपाड़ा
इन्दौर



स्व. श्री कन्चनबाई हस्तीमलजी पीपाड़ा
इन्दौर



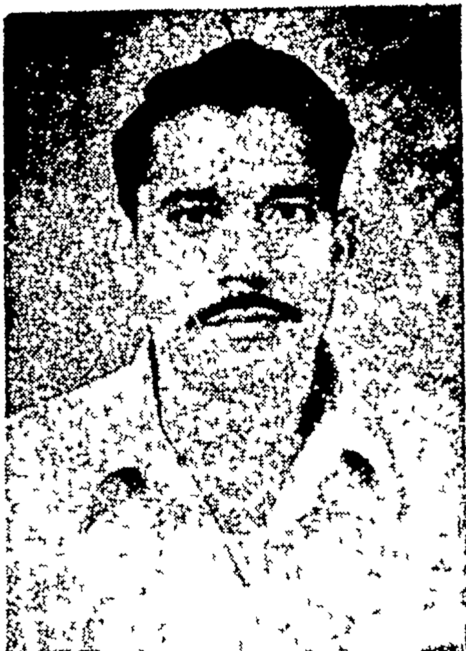
शा. मालाजी आशाजी, काकरिया
जालोर



श्री भँवरलाल चन्दनमलजी, भगत
आहोर



शा. खीमचन्द हंसराजजी, सेठ
भीनमाल



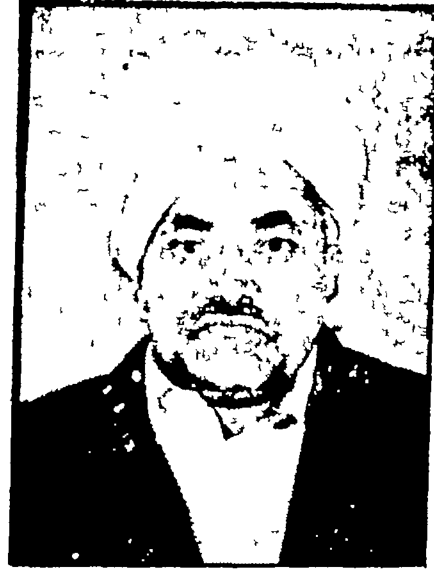
रीखबचन्द मुलतानमलजी
कॉकरिया—बागोड़ा



स्व. श्रीविजयकुमार उर्फ विमल-
कुमार शांतिलालजी मुथा, आहोर



पारसमल जुगराजजी
बाकरा



उकचन्द जुगराजजी
बाकरा



शा. तेजराज जुगराजजी
बाकरा

॥ प्रातः स्मरणीय प्रभुश्रीराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

शिथिलता निवारक

गुरुदेव श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरजी

के

चरणों में शत-शत वन्दना !

गुरु चरणोपासक

शा. भँवरलाल राजेशकुमार बेटा पोता चन्दनमलजी

रायचन्दजी भगत, आहोर [राजस्थान]

अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के साकार रूप

पूज्य गुरुदेवश्री

के पाद पद्मों में कोटि-कोटि वन्दना !

卐

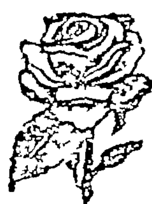
गुरु चरण वन्दनकर्ता

स्व० त्रिमलकुमार शान्तिलाल मुथा

आहोर [राजस्थान]

सर्वादरणीय सत्साहित्य में सादिग्ध रहना अपनी संस्कृति का घात करने जैसा है।

—श्रीमद्राजेन्द्रसूरि



श्रीनमिनाथ जैन देहरासर पेढ़ी
बम्बई

जिस व्यक्ति ने मनुष्य जीवन पाकर जितना अधिक आत्मविश्वास सम्पादित किया है वह उतना अधिक शान्तिपूर्वक सन्मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है।

श्रीमद्राजेन्द्रसूरि



श्रीसम्भवनाथ जैन ट्रस्ट
विजयवाड़ा

वन्दना !   वन्दना !!   वन्दना !!!

गुरुदेव तेरे चरणों में वन्दना !

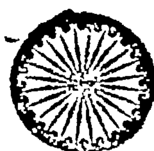


गुरु चरण सेवक

सालेचा डकचन्द तेजराज पारसमल मगनलाल संतोष-कुमार गणपतराज दिनेशकुमार अशोककुमार दिलीप कुमार जयप्रकाश विनोदकुमार बेटा पोता छोगालालजी जुगराजजी, मु. पो. बाकरा [राजस्थान]

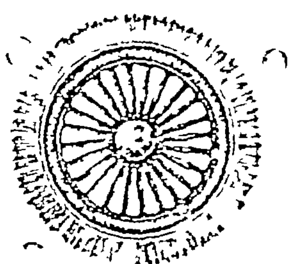
संयम और समता से जगमगाते जीवन को

बार-बार नमस्कार !



शा. चुन्नीलाल फूलचन्द हस्तीमल रूपचन्द पुखराज मोहनलाल दीपचन्द मुकनचन्द रमेशकुमार विकास-कुमार ललितकुमार अरविन्दकुमार बेटा पोता हजारी-मलजी, वागरेचा जीवाणावाला, सिवाणा [राजस्थान]

परिसह बलवंता तेह जीपन्ता, जय-जय राजेन्द्र जयकारी ॥



—गुरुचरणोपासक—

शा. रिखबचन्द सुखराज दिनेशकुमार अशोककुमार

बेटा पोता मुलतानमलजी कांकरिया, बागोड़ा [राज०]

प्राचीन तीर्थ स्वर्णगिरि (जालोर)

के उद्धारक

श्री गुरुदेव

के चरणो में वन्दना



शा. मालाजी मिश्रीमल मलेचन्द डूँगरमल घेवरचन्द

बेटा पोता आशाजी कांकरिया सूराणावाला

जालोर [राजस्थान]

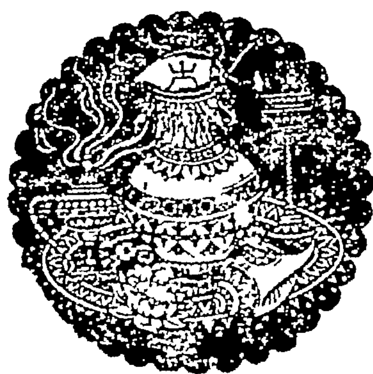
सहन शीलता के बिना संयम, संयम के बिना त्याग, और त्याग के बिना आत्म-विश्वास असम्भव है

—श्रीमद्राजेन्द्रसूरि



— गुरुचरणरत —

शा. खूबचन्दजी हस्तीमलजी पीपाड़ा
इन्दौर (म. प्र.)

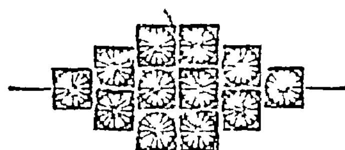


— गुरुगुणोपासक —

शा. खीमचन्द हंसराजजी सेठ
भीनमाल [राजस्थान)

संसार में सुमेरू से ऊँचा कोई पर्वत नही और आकाश से विशाल कोई पदार्थ नही, इसी प्रकार अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नही है ।

—श्रीमद्‌राजेन्द्रसूरि

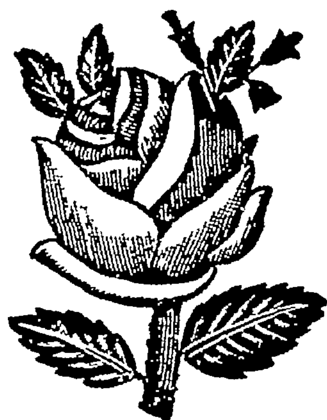


६

संयम-यात्रा के मार्ग की बाधाओं को दलित कर शुद्ध साध्वाचार का उत्कृष्ट पालन जिनका ध्येय था उन श्रीगुरुदेव के चरणों में वन्दना ! वन्दना !!



शा. ऊखचन्द, आसुजी, रायसोनीजी की पत्नि विजुबाई
भीनमाल [राजस्थान]



गुरु चरण वन्दनकर्ता

शा. किशोरचन्द, सोहनराज, बाबुलाल, सुमेरमल, कान्तिलाल, बेटा पोता डूँगरमलजी बाफणा
भीनमाल [राजस्थान]

जीवन-जागृति के उद्बोधक, जैनशासन दिवाकर
उत्कृष्ट क्रियापालक, परमपूज्य गुरुदेवश्री के प्रति

हमारी श्रद्धा-भक्तियुक्त वन्दना !



शा. हरकचन्द, बाबूलाल, पारसमल, भँवरलाल, मनोहरलाल, जुगराज, चन्दनमल, कातिलाल सरूपचन्द, मिठालाल, गौतमचन्द, प्रकाशचन्द, बेटा पोता लाघाजी, सँकलेचा ।

पो० मेंगलवा (राजस्थान)

शा. रिखबचन्द, मांगीलाल, कनकराज, महावीरकुमार, बेटा पोता जुहारमलजी, कवदी ।

सायला (राजस्थान)



शा. कुन्दनमल, मिश्रीमल, सुखराज, भँवरलाल, जेठमल, सॉवलचन्द, रतनलाल, बेटा पोता केसाजी ।

पो० मेगलवा (राजस्थान)



शा. भूरमल, दलीचन्द, चम्पालाल, दिनेशकुमार, बेटा पोता भानाजी भण्डारी ।

पो० मेंगलवा (राजस्थान)



विनय मानवता में चार चाँद लगाने वाला गुण है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, वैज्ञानिक और नीतिज्ञ हो; किन्तु जब तक उसमें विनय नही है तब तक वह सबका प्रिय और सम्मान्य नहीं हो सकता।

—श्रीमद्राजेन्द्रसूरि



श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष के निर्माता

श्री गुरुदेव भगवन्त

को हमारी भावभीनी वन्दना !



शा. सोनमल वस्तिचंद लालचन्द हीराचन्द सुरेशकुमार सुभाषकुमार बेटा पोता जेरूपजी, बाफना

सायला [राजस्थान]



शा हजारीमलजी डूँगरचन्द घेवरचन्द जुगराज देवीचन्द शांतिलाल लालचंद बेटापोता हिमताजी, कबदी

सायला [राजस्थान]



शा. घेवरमल भँवरलाल किशोरमल मिठालाल चंपालाल अशोककुमार मदनराज सुरेशकुमार नेमीचंद बेटापोता हजारीमल कपूरजी कटारिया संघवी

पो. धाणसा [राजस्थान]

शा. बाबूलाल जेठमल हीराचन्द नरपतराज दिनेशकुमार बेटा पोता अचलाजी सालेचा

भीनमाल [राजस्थान]



संसार में धार्मिक और कार्मिक सभी क्रियाएँ सद्भाव से ही सफल होती है।

—श्रीमद्राजेन्द्रसूरि

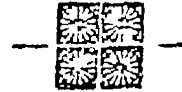




संघवी मेटल हाऊस

मद्रास





शा. मुलतानमल

सांकलचंद, मद्रास





शा. भूरमल भभूतमल

मद्रास





शा. कांतिलाल

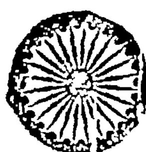
जयन्तिलाल, मद्रास



जिनके कार्यों की उपलब्धियां जैन इतिहास की धरोहर हैं, ऐसे परोपकारी

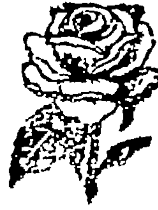
गुरुदेव श्री

के चरणों में हमारी भक्ति युक्त वन्दनाएँ।


समाज में जब तक धर्म श्रद्धालु श्रावक–श्राविकाएँ न होंगी तब तक समाज अस्त-व्यस्त दशा में ही रहेगा।

—श्रीमद् राजेन्द्रसूरि



संसार में वैराग्य ही ऐसा है जिसमें न किसी का भय है, न चिन्ता, अतः निर्भय वैराग्य–मार्ग का आचरण ही सर्वदा सुखप्रद है।

—श्रीमद्‌राजेन्द्रसूरि





जैसे सुगन्धित वस्तु की सुवास कभी छिपी नहीं रहती, वैसे ही गुण अपने आप चमक उठते है।

—श्रीमद्राजेन्द्रसूरि



जहाँ घूस खोरी, लूटपाट मँहगाई और आपसी फूट का साम्राज्य रहता है, वहाँ न प्रजा को सुख मिलता है और न सुख भर निद्रा आ सकती है ।

—श्रीमद्राजेन्द्रसूरि

श्री मोहनखेड़ा तीर्थ के संस्थापक

श्री गुरुदेव भगवन्त

के पावन चरणों में वन्दनावली !





शा. सोनराज कपूरचन्द
मनोहरलाल गुमानमल
दिनेशकुमार कैलाशकुमार
बेटा पोता डूँगरमलजी

बाफणा, भीनमाल [राज.]

शा. एम. पी. शाह
पोथेड़ी वाला

बम्बई



शा. कुन्दनमल बाबूलाल
धीरजमल कान्तिलाल
अशोककुमार बेटा पोता
धर्माजी जीवाणा वाला

सायला (राजस्थान)

शा. हस्तीमल कांतिलाल
जयन्तिलाल झवेरीलाल
बेटा पोता सुखराज
केनाजी चत्तरगोता

सायला (राजस्थान)

अशास्वत एवं क्षणभगुर सुख में लिप्त न रहकर ऐसे आनन्द को प्राप्त करने का यत्न करो जो कभी नाशवान ही न हो।

—श्रीमद् राजेन्द्रसूरि



शा. तिलोकचन्द
सद्दाजी संघवी
धाणसा (राज०)



ओ. सी. शाह
पांथेड़ी [राज०]



शा. तेजराज वदाजी
पांथेड़ी (राज०)



शा. शिवराज धूड़ाजी
जीवाणा [राज०]



श्री गोड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ आहोर के संस्थापक

प्रभु श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी

के

चरणों में भक्ति युक्त वन्दनाएँ !

शा. प्रेमचन्द छोगालाल मूलचंद छगनलाल शांतिलाल नेमीचन्द महावीरचंद महेन्द्रकुमार विमलकुमार कांतीलाल मनोजकुमार बेटा पोता वच्छराजजी प्रतापजी नरसिंगजी

आहोर

शा. हीराचन्द शेषमल भभूतमल चम्पालाल दिनेशकुमार ललितकुमार प्रवीणकुमार अनिलकुमार बेटा पोता केशरीमलजी मोतीजी

आहोर

शा. माणकचन्द शेषमल लादमल बेटा पोता दलीचन्द चमनाजी रुपावत संघवी

आहोर



शा. कुशलराज संपतराज भँवरलाल कान्तिलाल अशोककुमार वसंतकुमार रमेशकुमार सम्पतकुमार संदीपकुमार विक्रमकुमार बेटापोता कुंदमलजी पूनमचंदजी गादिला तलावत

आहोर

अपनी मति को सदैव वैराग्य रस में ओत प्रोत रखो, जिससे जन्म मरण सम्बन्धी दुःख मिटता जाए और आत्मा सुखमय बनती जाए।

—श्रीमद् राजेन्द्रसूरि





शा. छोगजी
धूलाजी की पत्नि
भट्टीबाई

गुड़ा [राजस्थान]



शा. वालचन्द
सिरेमल रामाणी

गुड़ा (राजस्थान)



शा. भँवरलाल दिनेश-
कुमार प्रवीणकुमार
राजेशकुमार बेटा पोता
वस्तीमल भानाजी चोपड़ा

आहोर (राज०)



शा. निहालचंद
धूड़ाजी कातरेचा
बोहरा

आहोर [राजस्थान]



प्राप्त दौलत से सुकृत करो, वह तुम्हें आगे भी सहायक सिद्ध हो सकेगा।

—श्रीमद् राजेन्द्रसूरि



शा. छोगालाल सोहनराज मांगीलाल हीराचंद ललितकुमार महेन्द्रकुमार विजयराज बेटा पोता वरदाजी

सायला [राज०]

शा. ओपचन्द चम्पालाल जवाजी

सायला [राज०]



शा. शेषमल खुशहालचन्दजी रामाणी

गुड़ा [राजस्थान]



शा. फूलचन्द लखमीचंद मोहनलाल कान्तिलाल बेटा पोता सेराजी सत्तावत

गुड़ा (राज०)



प्रत्येक व्यक्ति को द्रोह सर्वथा छोड देना चाहिये और अपने प्रत्येक व्यवहार कार्य में शाति से काम लेना चाहिये ।

—श्रीमद् राजेन्द्रसूरि





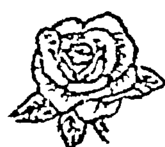
सुथा पूनमचंद शांतिलाल कांतिलाल भँवरलाल नरेन्द्रकुमार मुकेशकुमार बेटा पोता जसराजजी दांतेवडिया

आहोर



सुता थानमल शेषमल भँवरलाल घेवरचंद शांतिलाल अशोककुमार

आहोर – विजवाड़ा



मुता सूरजमल रूपराज एण्ड कं.

तनकु [आंध्र]



परियात मिश्रीमल जसवंतराज शांतिलाल जुगराज बेटा पोता रुघनाथमलजी

धारासा (राज०)



कर्म सत्ता को जिसने जीत लिया वही सच्चा विजयी है, इसलिये इसे जीतने का सच्चा मार्ग सीखो।

—श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

संघवी पीपाजी अचलचन्द दलीचन्द कान्तिलाल जयन्तिलाल कुशलराज महेन्द्रकुमार सुरेशकुमार गौतमचन्द बेटा पोता मगाजी गाँधी मुता

सियाणा (राज०)

शा. ऊकचंद उम्मेदमल बालचंद हीराचन्द किशोरमल बेटा पोता पेराजजी पांथेड़ी वाला

भीनमाल [राज०]



शा. सांकलचन्द नेथीजी वक्तावरमल कान्तिलाल फतेचंद रमेशकुमार कानराज तिलोकचंद डाह्यालाल कपूरचन्द रामजीजी

पांथेड़ी (राज०)

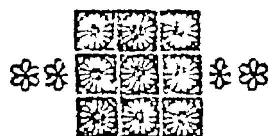
शा. खिमचन्द बाबूलाल पोपटलाल शान्तिलाल हीरालाल अशोककुमार सज्जनकुमार बेटा पोता प्रतापचन्दजी वर्धन

भीनमाल [राज०]

श्रीजिन भगवान् की वाणी के प्रचारक

श्री गुरुदेव

के चरणों में भक्तियुक्त वन्दनाएँ !



शा. मिश्रीमल

माड़मलजी, देसरला

परमार, सिवाणा [राज०]

२४

शा. इन्द्रमल

एण्ड कम्पनी

मैसूर (आंध्र)



शा. विजयराज बालचन्द

कांतिलाल पारसमल

नरेन्द्रकुमार चम्पालाल

बेटा पोता सरूपचन्दजी

सिवाणा [राजस्थान]

